Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

प्राचीनकाव्य

Institute of **Open** and **Distance Education**

Faculty of Arts

प्राचीनकाव्य

1BA3

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur

A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

1BA3

प्राचीनकाव्य

1BA3, प्राचीनकाव्य

Edition: March 2024

Compiled, reviewed and edited by Subject Expert team of University

1. Dr. Radha Sharma

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Pooja Yadav

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

3. Pragya Sharma (Net Qualify)

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning:

All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by:

Dr. C.V. Raman University

Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.),

Ph. +07753-253801, 07753-253872

E-mail: info@cvru.ac.in

Website: www.cvru.ac.in

इकाई-एक

कबीरदास

1. **सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।**
लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावनहार॥

सन्दर्भ एवं प्रसंग- प्रस्तुत साखी महात्मा कबीरदास द्वारा रचित कबीर ग्रन्थावली के "गुरुदेव कौ अंग" से अवतरित है। सतगुरु दिव्य दृष्टि से सम्पन्न है। उसकी महत्ता, महिमा अनिवर्चनीय है। उसने अनन्त कृपा करके शिष्य को अपरिमेय शक्ति प्रदान की है:

व्याख्या- सतगुरु की महिमा अनन्त है। उसकी महत्ता महिमा का वर्णन नहीं हो सकता है। उसने शिष्य के प्रति अनन्त उपकार किया है। उसकी असीम कृपा से अनन्त अर्थात् ज्ञान के चक्षु उद्घाटित हुए। उसकी असीम कृपा से अनन्त, निराकार, निर्विकार ब्रह्म के दर्शन हुए।

2. **राम-नाम कै पटंतरै, देबे कौं कछु नांहि।**
क्या ले गुरु संतोषिए, हौंस रही मन मांहि॥ 4॥

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है। गुरु के द्वारा प्राप्त कर लेने के लिए शिष्य के मन में कृतज्ञता का भाव प्रकट किया जा रहा है।

व्याख्या- शिष्य को गुरु के द्वारा राम-नाम रूपी बहुमूल्य वस्तु दी गई है। गुरु के प्रति इसके लिए शिष्य बहुत ही कृतज्ञ अनुभव करता है। वह इस आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करने के बाद भेंट में अपने गुरु को कुछ देना चाहता है किन्तु उसके मन में यह संकोच व्याप्त हो रहा है कि गुरु ने तो राम-नाम का ऐसा अमूल्य मंत्र दिया है कि जिससे मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है किन्तु मैं जो भी वस्तु गुरु दक्षिणा के रूप में दूँगा, वह उसकी तुलना में नगण्य होगी। इसलिए गुरु की सेवा में क्या वस्तु लेकर जाये कि गुरु को संतुष्ट कर सके, यह चिंता शिष्य को मन में व्यथित कर रही है। हाँ, उसे मन में उल्लास तो बहुत है, कि गुरु के इस महामंत्र के बदले गुरु को सब कुछ दे दिया जाए, किन्तु वह यह भी सोचती है कि सब नगण्य ही होगा, यह संकोच का भाव तुरंत सताने लगता है।

विशेष- (1) *गुरु द्वारा प्रदत्त गुरुमंत्र (राम-नाम को स्मरण करने का उपदेश) इतना महान् माना गया है कि इसकी तुलना संसार की किसी वस्तु से नहीं की जा सकती।*

(2) *इतना अमूल्य गुरुमंत्र देने वाला गुरु भी कितना महान है, जिसके प्रति अत्यंत कृतज्ञ होने का भाव शिष्य द्वारा व्यक्त किया गया है।*

(3) *गुरु के प्रति शिष्य के मन में भेंट समर्पण करने का अपार उत्साह भी दृष्टव्य है।*

(4) **भाषा-** *सरल, सुबोध एवं सर्वसाधारणोचित है।*

(5) *शिष्य (आश्रय) के हृदय में गुरु (आलंबन) के प्रति गद्गद् होने की (मौगंध भाव) व्यंजना किए जाने से (गुरु) भक्ति रस का सुंदर परिपाक हो रहा है।*

3. **सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।**
लागत ही मैं मिल गया, पड्या कलेजै छेक॥ 7॥

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है। सत्यगुरु के ज्ञानोपदेश का प्रभाव बताया गया है।

व्याख्या- प्रस्तुत साखी में शिष्य (साधक) अपने आध्यात्मिक गुरु को एक सच्चे शूर-वीर के बराबर मानता है क्योंकि शूरवीर एक ही बाण में काम तमाम कर देते हैं, उसी प्रकार गुरु भी एक शब्द के ज्ञान से शिष्य के भीतर एक प्रभाव छोड़ देता है, जिससे उसके भीतर का अहंकार समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि गुरु के एक शब्द का इतना व्यापक प्रभाव माना गया है कि शिष्य (साधक) के अंतस् में इस शब्द रूपी बाण के लगते ही अहंकार तो विलीन हो जाता है और हृदय तक बिंधता चला जाकर वह शब्द रूपी बाण अपना रूपक प्रभाव छोड़ता है।

विशेष- (1) *सतगुरु साँचा सुरिवाँ में रूपक अलंकार की योजना करके ऐसा धनुर्विद के रूप में गुरु को देखा गया जिसका निशाना अचूक होता है।*

(2) *कलेजे को चीरता चला जाने वाला बाण यहाँ अप्रस्तुत है, जो गुरु के शब्दों (उपदेशों) के लिए प्रयुक्त होने से प्रभावी बिम्ब निर्माण करने में सफल हुआ है।*

(3) **अलंकार-** *'सद्गुरु' साँचा, सूरिवाँ, अनुप्रास, 'सबद' उपमान का उल्लेख से रूपकातिश्योक्ति।*

4. **ना गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव।**
दून्यूँ बड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव॥ 6॥

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है। लोभी गुरु लालची चेला दोनों का ही कल्याण असंभव है, इस सत्य का उद्घाटन कवि कबीर ने प्रस्तुत साखी में किया है-

व्याख्या- जब किसी साधक को योग्य ज्ञानी, तत्वान्वेषी गुरु नहीं मिला, तब किसी प्रकार के कल्याण की आशा करना व्यर्थ है। इतना ही नहीं यदि साधक भी ठीक ढंग से पूर्णरूपेण शिष्यत्व ग्रहण नहीं करता, तब भी कल्याण नहीं हो सकता। कबीरदास जी की मान्यता यह है कि जब तक पहुँचा हुआ गुरु न मिले और साधक उसकी ठीक से शिष्यता ग्रहण न करे, तब तक उसकी मुक्ति होना संभव नहीं, क्योंकि इस संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए लालच को त्यागना पड़ता है। दुर्भाग्य से जब गुरु और शिष्य दोनों ही लालच के शिकार हों और अपने-अपने दाँव पर चौकन्ने रहकर घात में लगे रहते हों, तब वे एक-दूसरे को धोखा ही देंगे। ऐसे लोभी गुरु और लालची चेला दोनों ही संसार रूपी समुद्र को पार करने के लिए मानो पत्थर की नाव पर बैठकर इस संसार रूपी समुद्र को पार करना चाहते हैं। इसका दुष्परिणाम यही होगा कि दोनों ही बीच धार में डूबकर मर जाएंगे। इस संसार रूपी सागर से पार जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

विशेष- (1) *शिष्यत्व ग्रहण करना और सद्गुरु का मिलना दोनों पक्षों का सत्य-मार्ग ग्रहण करना आवश्यक माना गया है।*

(2) *'धारा' यहाँ संसार रूपी समुद्र का 'रूपक' खड़ा करने के लिए प्रयुक्त है।*

(3) *'पाथर की नाव' उस कच्चे या अधूरे साधन का प्रतीक है, जो अज्ञानी गुरु और लोभी शिष्य के द्वारा भवसागर पार करने के लिए अपनाया जाता है।*

5. **सतगुरु हम सूँ रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।**
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है। कबीरदास ने इस साखी में सत्गुरु की महिमा का उल्लेख किया है।

व्याख्या- कबीरदास जी कहते हैं कि सत्गुरु ने हमसे प्रसन्न होकर मुझे एक उपदेश दिया। उसका प्रभाव यह हुआ कि जिस तरह बादल के बरसने से सम्पूर्ण संसार जलमग्न हो जाता है, उसी तरह भगवद् भक्ति से हमारा सारा शरीर ओत-प्रोत हो गया है। भक्ति (प्रेम) से शरीर तथा मन पवित्र हो गये हैं।

साहित्यिक वैशिष्ट्य-

(1) *'भीजि गया सब अंग' में भक्ति रस के उद्रेक का उल्लेख किया गया है।*

(2) *'बरस्या बादल प्रेम का' में रूपक अलंकार का सौन्दर्य उत्पन्न किया गया है। 'बरस्या बादल' में अनुप्रास अलंकार है।*

(3) *'बरस्या' क्रिया में याकारान्तता से कबीर की भाषा पर पंजाबी भाषा का प्रभाव देखा जा सकता है।*

6. **कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।**
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होइ ॥1॥

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "सुमिरन कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीरदास जी कहते हैं कि मैं यह निरन्तर प्रस्थापित करता आ रहा हूँ कि राम-नाम जपने से ही कल्याण होगा अन्यथा आचरण में कल्याण सिद्ध नहीं होगा; इस बात को सुनते तो सब हैं, किन्तु आचरण नहीं करते।

विशेष- शब्द-योजना से कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हुई है।

7. **जिहि घटि प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।**
ते नर इस संसार में, उपजि भये बेकाम॥

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "सुमिरन कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- जिनके हृदय में न तो प्रेम ही है एवं न प्रेमानन्द तथा न जिनकी वाणी राम नाम का उच्चारण करती है, वे मनुष्य इस संसार में आकर व्यर्थ ही नष्ट हो गये। उन्होंने अपने जीवनोद्देश्य को पूर्ण नहीं किया।

साहित्यिक वैशिष्ट्य- कवि ने जीवन का उद्देश्य 'रामनाम' को बनाने का उपदेश दिया है।

8. **लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार।**
कहौ संतौ क्यूं पाइये दुरलभ हरि दीदार॥

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "सुमिरन कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर कहते हैं कि हे सन्त जनो! हरि दर्शन अत्यन्त कठिन है क्योंकि उनका निवास-स्थान बहुत दूर है, साधना का पथ भी बड़ा जटिल है जिसमें काम आदि डाकुओं के बहुत से भय हैं।

साहित्यिक वैशिष्ट्य- 'दूरि घर' से ब्रह्म की अगम्यता तथा अगोचरता, 'विकट पंथ' से साधना की कठिन स्थली और 'बहु मार' से सांसारिक भयों की तरफ इंगित किया है।

9. **कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।**
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति॥10॥

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "सुमिरन कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य ! जब तक तेरे शरीर रूपी दीपक में जीवन रूपी वर्तिका है, तब तक तू सांसारिक भ्रमों एवं चिन्ताओं से मुक्त होकर राम नाम का स्मरण कर। व्यर्थ आलस्य-सुषुप्ति-में अपना जीवन मत गँवा, क्योंकि जब श्वास रूपी तेल समाप्त हो जाने पर जीवन-वर्तिका बुझ जायेगी तब अहर्निश चिरनिद्रा (मृत्यु) में ही सोवेगा; अर्थात् प्रभु भक्ति के लिए ही तुझे यह जीवन मिला है।

विशेष-रूपकातिशयोक्ति।

10. **कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।**
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल ।।5 ।।

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "सुमिरन कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर कहते हैं कि एकमात्र प्रभु नाम स्मरण ही समस्त तत्वों का सार है और इसके अतिरिक्त हरि भक्ति के अन्य सांसारिक साधन जाल हैं जिनमें से निकलने का प्रयत्न करने पर मनुष्य और फँस जाता है। मैंने सांसारिक साधनों का आदि और अवसान अथवा अथ से इति तक अवलोकन करके देख लिया, वे काल स्वरूप विनाशकारक हैं।

विशेष-रूपक अलंकार।

11. **चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति।**
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति ।।3 ।।

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- रात्रि की बिछुड़ी हुई चकवी अपने चकवे से प्रभात के आगमन पर मिल जाती है, किन्तु जो राम से वियुक्त हैं वे तो दिन या रात कभी उनसे मिल नहीं पाते।

विशेष- 1. एक प्रकार से कबीर के इस वियोग का उद्दीपन विभाव-वर्णन है जिसमें विरहिणी आत्मा को एक वियुक्तयुग्म का मिलन देखकर अपना मिलना खटकता है।

2. यह विश्वास है कि चकवा और चकवी दिन छिपते ही अलग-अलग हो कर एक-दूसरे के विरह में तड़पते हैं और प्रभात में मिल जाते हैं।

12. **बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।**
राम बियोगी ना जिब, जिवै तो बौरा होइ ।।

संदर्भ एवं प्रसंग - प्रस्तुत साखी 'कबीर' द्वारा रचित "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- विरह रूपी सर्प शरीर की बांबी में घुसा बैठा है, उसे कोई भी मंत्र (साधक) बाहर निकालने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रभु का वियोगी तो जीवित ही नहीं रह सकता, वह जीवन-मुक्त हो जाता है तथा अगर जीवित रहता है तो सांसारिक कर्तव्यों आदि से पूर्ण असंपृक्त हो जाता है जिसे लोग पागल कहने लगते हैं।

विशेष- (1) प्रथम चरण में सर्प को पकड़ने की क्रिया से विरह की तुलना है, बांबी में से सर्प को मंत्र बल से निकाल कर वशीकृत किया जाता है। (2) रूपक अलंकार।

13. **अंखड़ियां झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।**
जीभड़ियां छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि ।।

प्रसंग- यह साखी कबीरदास द्वारा रचित "विरह कौ अंग" से ली गई है।

संदर्भ- प्रस्तुत साखी में प्रियतम के वियोग में दुःखी विरहिणी आत्मा की दशा का वर्णन किया गया है।

व्याख्या- प्रियतम के वियोग में विदग्ध विरहिणी नायिका रूपी आत्मा कहती है कि प्रियतम राम का मार्ग देखते-देखते मेरी आंखों में झांई पड़ गई है अर्थात् मेरी आंखों से अब कुछ दिखाई नहीं देता है एवं उसका नाम रटते-रटते मेरी जिह्वा में छाले पड़ गये हैं।

विशेष-

(1) **अलंकार-** *'पड़ी-पंथ' में अनुप्रास एवं 'निहारि-निहारि' और 'पुकारि-पुकारि' में पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार है।*

(2) *यहां राम का तात्पर्य दशरथ पुत्र नहीं, सारे संसार में रमे ब्रह्म से है।*

14. **कै बिरहिन कूँ मीच दे, कै आपा दिखलाइ।**
आठ पहर का दाझणां, मोपैं सह्या न जाइ॥ 35॥

प्रसंग- यह साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है। प्रस्तुत साखी में विरहिणी मृत्यु का वरण उत्तम समझती है यदि प्रियतम अपने दर्शन न दे। विरह की आग में रात-दिन का जलना उससे सहन नहीं होता।

व्याख्या- वियोग कातर कबीर ईश्वर से आग्रहपूर्वक कहते हैं कि रात-दिन का विरह दाह अब मेरी सहनशक्ति की सीमा से बाहर हो गया है। अतः ऐसी स्थिति में या तो मेरी जीवन-लीला ही समाप्त कर दो या फिर अपना साक्षात्कार कराओ। तुम्हारे दर्शनों के बिना, विरह-वेदना-दग्ध जीवन की तुलना में मृत्यु ही मेरे लिए उचित जान पड़ती है।

विशेष- (1) *भाव यह है कि विरह-व्यथा में रात-दिन आठों पहर का संतप्त होना, अब मुझसे सहा नहीं जाता।*

(2) *वाकवैशिष्ट्य ध्वनि के रूप में आत्मा-परमात्मा का संबंध व्यक्त हो रहा है।*

(3) *प्रियतम पर प्रेमाधिकार की व्यंजना, विरह-विदग्धता का चित्रण एवं प्रिय-मिलन की तीव्र आकुलता इस दोहे की विशेषता है।*

15. **सब रंग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त।**
और न कोई सुणि सकै, साईं के चित्त॥ 20॥

प्रसंग- यह साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है। प्रस्तुत साखी में संत कबीरदास बताते हैं कि इस शरीर में अनहदनाद किस प्रकार हुआ करता है, यह स्पष्ट कर रहे हैं-

व्याख्या- शरीर की नसें तांत के समान हैं, और शरीर रबाब बाजे के समान हैं और विरह के कारण यह नित्य बजता रहता है परंतु उसको कोई और नहीं सुन सकता। या तो आत्मा सुनती है या फिर आत्मा के रूप में निवास करने वाला परमात्मा सुनता है।

भाव यह है कि इस शरीर पर विरह का नित्य प्रभाव पड़ता है परंतु इसी तंत्री के स्वर का या तो मेरा प्रियतम परमात्मा सुनता है या मेरा चित्त। इसके अतिरिक्त कोई उसे सुनने में समर्थ नहीं है।

विशेष- (1) **अलंकार-सांगरूपक** *'बिरहि-बजावै', 'सुणि सकै' में अनुप्रास।*

(2) *आत्मा का जब परमात्मा से विरह होता है तब शरीर और मन की क्रियाओं में ईश्वर-प्रेम एक विशेष राग उत्पन्न कर देता है। भक्त का सारा जीवन ही संगीत हो जाता है।*

16. **दौं लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ।**
दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय॥6॥

प्रसंग- यह साखी संत कबीरदास द्वारा रचित "ज्ञान-विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- ज्ञानाग्नि के लगने से वासना का सागर भस्म हो गया और नवीन सृष्टि में (ज्ञानयुक्त होने पर) वैराग्य, विवेक, करुणा आदि गुणों के पक्षी आकर चहचहाने लगे। इस दग्ध वासना-शरीर का मैं पुनः पल्लवित नहीं होने दूँगा क्योंकि सतगुरु ने ज्ञान-अग्नि लगा दी है।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा परम सिद्धि रूपी वस्तु ध्वनित हुई है।

17. **अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारे रोइ।**
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ ॥8 ॥

प्रसंग- यह साखी संत कबीरदास द्वारा रचित "ज्ञान-विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- सद्गुरु रूपी आखेटक ने माया के विषय-वासनायुक्त वन में ज्ञान की अग्नि लगा दी। जीव रूपी मृग यह पुकार कर रो उठे कि जिस वन में हमने क्रीड़ायें कर सुख भोग प्राप्त किया वही जल रहा है।

विशेष- मृगों को पकड़ने या मारने के लिए आखेटक सम्पूर्ण वन में आग लगा देते हैं। वन में आग लगती देख मृग सम्मुख आ जाते हैं और आखेटक उन्हें अपने बाणों का लक्ष्य बना लेता है। यही रूपक कबीर ने यहाँ प्रयुक्त किया है।

18. **हिरदा भीतरि दौं बलै, धूवां न प्रगट होई।**
जाकै लागी सौ लखौ, के जिति लाइ सोई ॥

संदर्भ एवं प्रसंग - यह साखी संत कबीरदास द्वारा रचित "ज्ञान-विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- हृदय के भीतर प्रेम की दावाग्नि धधक रही है किन्तु उसका धुआं प्रकट नहीं होता, वह तो भीतर ही भीतर जलती रहती है। इस अग्नि का अनुभव तो दो ही कर सकते हैं, या तो वह जिसके हृदय में यह अग्नि धधकती है और या फिर जो इस अग्नि को लगाने वाला है। शेष संसार इस अग्नि का धुंआँ अर्थात् कुछ भी चिन्ह नहीं देख पाता।

19. **पाणी मांहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि।**
बहती सलिता रह गई, मंछ रहे जल त्यागि ॥9 ॥

प्रसंग- यह साखी संत कबीरदास द्वारा रचित "ज्ञान-विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- विषय-वासना रूपी जल में ज्ञान की आग लगाकर तीव्र वेग से फैल गई। ज्ञान ने सम्पूर्ण माया बन्धन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। माया की सरिता का प्रवाह रुक जाने से जीवों ने जल-संसार का परित्याग कर दिया; अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये।

विशेष- इस साखी में सिद्ध नाथों के रुढ़ प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

20. **संतो भाई आई ग्यान की आंधी।**
भ्रम की टाटी सरै उड़ानी, माया रहै न बांधी।
दुचिते की है थूंनी गिरानी, मोह बलौड़ा टूटा।
त्रिस्ना छांनि परी धर ऊपरि, कुबुधि का भांडा फूटा।
जोग जुगति करि संतौ बांकी, निरच चुवे न पांणी।
कूड़ कपट छाया का निकस्या हरि की गति जब जांणी।
आंधी पीछैं जो जल बढ़ा, प्रेम हरि जन भीनां।
कहै कबीर बांन के प्रगटे उदित भया तम बीनां ॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद संत कबीर द्वारा विरचित है। इस पद में उन्होंने सांग रूपक अलंकार के माध्यम से इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि जब ज्ञान रूपी आंधी चलती है, तो उसके कारण माया मोह रूपी छप्पर आदि नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं।

व्याख्या- साधु-संतों को संबोधित करते हुए कबीर कहते हैं कि अरे भाई संतों ! मेरे अंतर्मन में (इस जगत में ज्ञान की आंधी आई हुई है) ज्ञान की इस आंधी के कारण मेरे मन पर जो भ्रम की टटिया घेरे हुई थी, वह उड़ गई हैं तथा उसको बांधने वाले माया के बंधन टूट गए हैं। (टटिया बनाते समय अरहर की लकड़ियों या सरकंडों को पतली रस्सी द्वारा कसकर बांध देते है) मेरे अंतर्मन की टटिया पर जो तृष्णा-रूपी छप्पर पड़ा हुआ था और उस छप्पर को संभालने के लिए द्विविदा रूपी दो थूनियां लगी हुई थीं, वे भी ज्ञान की आंधी के जोर से गिर पड़ी हैं और छप्पर के नीचे लगा बलेड़ा भी टूटकर गिर गया है। बलेड़ा तथा थूनियों के टूट जाने के कारण मेरे मन पर पड़ा हुआ तृष्णा-रूपी छप्पर भी जमीन पर आ गिरा है, जिससे दुर्बुद्धि रूपी बर्तन टूट गए हैं।

कबीर आगे कहते हैं कि अरे संतों ! वैसे तो मैंने तृष्णा-रूपी छप्पर को बड़ी समझ-बूझ पूर्वक इस प्रकार बांधा था कि उसमें से पानी न चुए उसमें होकर ज्ञान तथा हरि-प्रेम रूपी जल न चू सके तो भी प्रभु कृपा के कारण ज्ञान-रूपी आंधी ने मेरी तृष्णा के छप्पर को नष्ट भ्रष्ट कर डाला है और जब से मुझे प्रभु की गति का पता चल गया है, मेरे शरीर का कपट-रूपी कूड़ा ज्ञान की आंधी में उड़ गया है। कबीर कहते हैं कि इस ज्ञान की आंधी के पश्चात् हरि-प्रेम रूपी जल की जो वर्षा हुई है उसने मुझे प्रेम-जल से भिगो दिया है-अर्थात् मेरे हृदय में जब ज्ञान उत्पन्न हो गया तो उसके फलस्वरूप मेरे माया-मोह आदि विकार नष्ट हो गए तथा इन विकारों के नष्ट हो जाने पर जब मैं हरि-भजन की ओर उन्मुख हुआ, तो मैं प्रभु के प्रेम रूपी जल में भीग उठा हूं। अंतिम पंक्ति में कबीर ने यह भाव व्यक्त किया है कि ज्ञान-रूपी सूर्य के उदय हो जाने पर अज्ञान रूपी अंधकार क्षीण पड़ गया है।

21. **पंडित बाद बदते झूठा।**

राम कह्यां दुनिया गति पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै, तौ सबु कोई तिरिजाई।
नर कैं साथि सूवा हरि बौले, हरि परताप न जानै।
जो कबहूं उड़ि जाइ जगल मैं बहुरिन सुरतै आनै।
सांची प्रीति विषै माया सूं हरि भगतन तूं हांसी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बांध्यी जमपुर जासी॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद में संत कबीर ने इस तथ्य पर बल दिया है कि मात्र तोते की तरह राम-राम रटने से किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता, जैसा कि पंडित लोग कहा करते हैं अपितु राम नाम के मर्म को समझ लेने पर ही मोक्ष मिल सकता है।

व्याख्या- कबीर पंडितों को चुनौती देते हुए कहते हैं कि तुम जो यह बात कहते हो कि राम राम रटने से मोक्ष मिल जाएगा, यह बात बिल्कुल मिथ्या है। तुम्हारी यह बात तो वैसी ही विस्तार है जैसे यह कहना कि खांड-खांड कहने से मुंह मीठा हो जाएगा-अर्थात् जैसे खांड-खांड कहने मात्र से मुंह मीठा नहीं हो सकता है, उसी प्रकार राम-राम कहने से मोक्ष नहीं मिल सकता। इसी प्रकार से अन्य तर्क देते हुए कबीर आगे कहते हैं कि आग-आग कहने से पांव जल जाएं, पानी-पानी कहने से प्यास बुझ जाएं, भोजन-भोजन कहने मात्र से भूख मिट जाए तो राम-राम कहने

मात्र से सब किसी का उद्धार भी हो सकता है, किन्तु जैसे कि उपर्युक्त कार्यों का होना संभव नहीं उसी प्रकार राम-राम रटने से मोक्ष नहीं मिल सकता है।

बिना मर्म को समझे हुए राम-नाम के रटने की निरर्थकता को उभारते हुए कबीर कहते हैं कि स्वामी (मालिक) द्वारा पढ़ाए जाने पर तोता भी उनके साथ-साथ राम का नाम रटता या बोलता रहता है, किन्तु वह राम नाम के मर्म और महत्व को नहीं समझता। यही कारण है कि अपने मालिक के यहां तो वह राम-राम रटता रहता है, किन्तु वह जंगल में उड़ जाये तो उसे फिर राम के नाम का स्मरण नहीं आता-यह स्वेच्छा से राम के नाम का स्मरण नहीं करता है। कबीर के कहने का अभिप्राय यह है कि राम के नाम के प्रताप को समझे बिना उसका बार-बार उच्चारण करने वाले लोगों की तोता रटत का कोई महत्व नहीं है।

अंतिम दो पंक्तियों में कबीर ने यह भाव-व्यक्त किया है कि जो लोग भोग-विलास तथा माया में वशीभूत होकर अन्य सांसारिक प्रलोभनों से निमग्न रहते हैं और हरि-भक्तों का उपहास करते रहते हैं, जिनके हृदय में ईश्वर के प्रति सच्चा प्रेम भाव-उत्पन्न नहीं हुआ है, वे लोग निश्चय ही यम के पाश में बंधकर यमपुरी ले जाए जाएंगे-उन्हें नरक में बास और वहां की यातनाओं को सहन करना पड़ेगा।

22. **हम न मरै मरिहैं संसारा,**
हम कूं मिल्या जियावनहारा॥
अब न मरौं मन मानां, तेई मूए जिनि रांम न जांनां।
साकत मरै संत जन जीवै, भरि भरि राम रसांइन पीवै॥
हरि मरिहैं तो हमहूँ मरिहैं, हरि न मरै हंम काहे कूं मरिहैं।
कहैं कबीर मन मनहि मिलावा, अमर भये सुख सागर पावा॥

प्रसंग- कबीरदास कहते हैं कि मन के प्रभु की तरफ लग जाने से जीव अमरत्व को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या- कबीर कहते हैं कि हम नहीं मरेंगे, यह माया रूपी संसार ही नष्ट हो जायेगा। हमें तो अमरत्व प्रदान करने वाले आत्मतत्त्व की प्राप्त हो गई है। मैं अब नहीं मरूँगा, क्योंकि मैंने मरने न मरने के रहस्य को समझ लिया है।

23. **हम तौ एक एक करि जांनां।**
दोइ कहैं तिनहीं कौं दोजग, जिन नाँहिन पहिचांनां। टेक॥
एकै पवन एक ही पांनीं, एक जोति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजनहारा॥
जैसैं बाढ़ी काष्ट ही काटै, अगिनि न काटैं कोई।
सब घटि अंतरि तू ही व्यापक, धरै सरूपैं सोई॥
माया मोहे अर्थ देखि करि, काहै कूं गरबांनां॥
निरभै भया कछू नहीं ब्यापै, कहै कबीर दीवांनां॥

प्रसंग- पूर्व पद के समान।

व्याख्या- कबीरदास कहते हैं कि मैंने तो परमात्मा को सिर्फ एक के ही रूप में जाना है। जो परमात्मा के बारे में द्वैतभाव रखते हैं जो ईश्वर तथा जगत् को भिन्न मानते हैं, उन्होंने परमात्मा के रूप को नहीं जान पाया है, उनके लिए नरक बना हुआ है अर्थात् ऐसे लोग ही नरक में पड़ते हैं। पवन, पानी, प्रकाश आदि रूपों में वस्तुतः एक ही सत्ता व्याप्त है। इस संसार में एक ही पवन

परिव्याप्त है। चारों तरफ एक ही जल है, एक ही परम प्रकाश इस सारे संसार में दिखाई देता है। एक ही मिट्टी से समस्त शरीर रूपी बर्तन बनाए गए हैं तथा इन सबको बनाने वाला भी एक ही है। जिस तरह बढ़ई तरह-तरह की वस्तुएं बनाने के लिए लकड़ी को काटता है लेकिन उसमें व्याप्त अग्नि को नहीं काट पाता है। अग्नि लकड़ी के प्रत्येक टुकड़े में अक्षुण्ण बनी रहती है। उसी तरह परब्रह्म अक्षुण्ण रूप से प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त रहता है। पदार्थ के नष्ट होने का अर्थ उसके बाह्य रूप का ही नाश होना है, उसमें व्याप्त परम तत्त्व का नहीं।

कबीरदास मानव मात्र को सावधान करते हुए कहते हैं कि तुम माया के भ्रम जाल में पड़कर इस धन-दौलत के ऊपर क्यों गर्वित होते हो? मेरी तरह ईश्वर प्रेम में मस्त भक्तों का कहना है कि निर्भीक हो जाने पर माया का मोह नहीं सताता है।

अलंकार- उदाहरण-जैसे बाढ़ीं।

विशेष- *(1) एकेश्वरवाद एवं सर्वात्मवाद का प्रतिपादन है।*

(2) *'एक करि जांनां'-हमारा विचार है कि परमात्मा केवल एक ही है, भले ही कोई उसे राम कहे या रहमान।*

24. **मन रे जागत रहिए भाई।**

गुरु प्रसादि अकलि भई तोकों, नहीं तर था बेगाना
नेडै थैं दूरि दूरि नियरा, जिनि जैसा करि जानां
ओ लौं टीका चढ़या बलीडै, जिनि पिया तिनि मानां
उलटे पवन चक्र षट वेधा, सुनि सुरति लै लागी।
अमर न मरै मरै नहीं जीवै, ताहि खोजि बैरागी॥
अनमें कथा कवन सौं कहिये, है कोई चतुर बिबेकी।
कहे कबीर गुरु दिया पलीता, सो झल बिरलै देखी।

प्रसंग- कबीर ने इस पद में कबीर को गुरु के ज्ञान के फलस्वरूप जो साधना की श्रेष्ठ उपलब्धि हो उठी, उसकी व्यंजना प्रस्तुत की है।

व्याख्या- रे साधक! तेरा मन, मन में ही समा गया है अर्थात् तेरी बहिर्मुखी प्रवृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो उठी हैं। गुरु की कृपा से हे साधक ! तुझे ज्ञान हो गया है अन्यथा तू अन्य लोगों की तरह परमतत्त्व से अपरिचित ही रहता है। अब तेरे मन की भटकी हुई वृत्तियाँ अपने मूल आधार पर समा गई हैं या व्यष्टि मन उस परम तत्त्व में समा गया है। विषयों की बहिर्मुखी आनन्द-प्रवृत्ति उलटकर आत्मरति की तरफ अभिमुख हो गई है। इस आत्मरति के जल को जिसने पिया है, वही उसका स्वाद जानता है। प्राण वायु ने उलटकर षट्चक्र का भेदन कर दिया है। तुम्हारा ध्यान शून्य तथा सुरत तत्त्व में लग गया है अथवा तुम्हारी सुरति उस शून्य तत्त्व में अनुरक्त हो गई है। जो तत्त्व न आता है, न जाता है, न मरता है, न जन्म लेता है। रे विरक्त साधक ! तू उस तत्त्व को शोधकर या अमर तत्त्व चैतन्य कभी मरता नहीं है तथा मूल जड़ तत्त्व कभी प्राणवान नहीं होता, इस सत्य का अनुसन्धान कर। यही तत्त्व सबका स्वरूप है अत: वह अत्यन्त समीप है। लेकिन वह जीव के अहंकार रूप से नितान्त दूर भी है। इस तरह यह तत्त्व जीव से दूर एवं नजदीक दोनों होता है। जिन्होंने इस तत्त्व को जैसा समझा है उनके लिए यह वैसा ही है। जिन्होंने इसे अपने अहंकारी रूप से अलग समझा है। जिन लोगों ने रस तत्त्व का वास्तविक साक्षात्कार किया है, उनकी इसके उपर्युक्त स्वरूप में निष्ठा तथा प्रतिष्ठा हुई है।

साहित्य वैशिष्ट्य-

(1) *रूपक, श्लेष, रूपकातिश्योक्ति अलंकार है।*

(2) *गुरु की कृपा से वृत्तियों का अन्तर्मुखी होना, योग साधना की प्रक्रिया तथा सुरति की स्थिति व्यंजित है।*

सूरदास

25. **चरन कमल बंदौ हरि राइ!**
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कौ सब कुछ दरसाइ।
बहिरौ सुनै, गूँग पुनि बोलै, रंग चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार-बार बंदौं तिहिं पाइ॥

सन्दर्भ- प्रस्तुत पद महाकवि सूरदास विरचित 'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध में संकलित 'विनय के पदों' से अवतरित है।

प्रस्तुत पद में महाकवि सूरदास जी अपने आराध्य की वन्दना करते हुए उनके महिमा का गुणगान कर रहे हैं।

व्याख्या- सूरदासजी कहते हैं कि हे ईश्वर मैं आपके कमल रूपी चरणों की वन्दना करता हूँ। जिस ईश्वर की परम कृपा से लंगड़ा व्यक्ति (जो चलने में भी असमर्थ होता है) ऊंचे से ऊँचे पर्वत को पार कर सकता है तथा पूर्णतया नेत्रहीन सब कुछ देखने में समर्थ हो जाता है। बहरा व्यक्ति सुनने लगता है, गूँगा बोलने लगता है एवं अत्यधिक निर्धन व्यक्ति भी राजा की भाँति सिर पर छत्र धारण करके चलने लगता है अर्थात् धन-सम्पदा से युक्त हो जाता है। सूरदास जी कहते हैं कि हे ईश्वर आप अत्यधिक करुणामय हैं, इसी कारण मैं आपकी करुणा का आकांक्षी दास बार-बार आपके चरणों की वन्दना करता हूँ।

विशेष- (1) *रूपक एवं विभावना अलंकार,*

(2) *ईश्वर की अतुलित सामर्थ्य तथा करुणामयता का वर्णन है।*

26. **अविगत- गति कछु कहत न आवै।**
ज्यों गूंगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै॥
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै॥
मन- बानी कौ अगम- अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप- रेख- गुन- जाति- जुगति- बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन- पद गावै॥

सन्दर्भ एवं प्रसंग- प्रस्तुत अवतरण महाकवि सूरदासजी द्वारा रचित महाकाव्य 'सूर सागर' के 'विनय के पद' प्रसंग से अवतरित है। प्रस्तुत पद में कवि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर साकारोपासना की श्रेष्ठता को सिद्ध कर रहा है और साथ ही वह निर्गुणोपासना में होने वाली कठिनाइयों की ओर भी संकेत कर रहा है:

व्याख्या- कवि कहता है कि चूंकि निर्गुण ब्रह्म अत्यन्त महिमामय है अतः उसके गुणों व महत्व को पूर्णतः स्पष्ट कर सकना कोई सरल कार्य नहीं है और सच तो यह है कि अगम तथा

रहस्यपूर्ण शक्ति को समझकर शब्द- बद्ध कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि जिस प्रकार एक वाणी- हीन व्यक्ति किसी मीठे फल को खाकर उसके मधुर आनन्द का अनुभव तो करता है पर वाणी के अभाव में वह उसे प्रकट नहीं कर पाता है। कुछ ऐसी ही स्थिति उस भक्त की भी होती है जो कि ज्ञान, योग तथा आराधना की उपासना के द्वारा अपने आराध्य देव की शक्ति का अनुभव कर उसकी प्रतिमा को अपने मन- मंदिर में स्थापित कर लेता है लेकिन वह उसका वर्णन करने में पूर्णत: अक्षम ही होता है।

यहां कवि के कहने का अभिप्राय केवल यही है कि निराकार ईश्वर मन और वाणी का विषय नहीं है क्योंकि उसका अनुभव तो केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो कि उसके समीप पहुंच पाने की क्षमता रखता हो अन्यथा वह रूप, गुण, रेखा तथा जाति से हीन जन- साधारण की पहुंच के परे होता है। इस प्रकार सूर यहां यह संकेत करना चाहते हैं कि निराकार ब्रह्म की उपासना जन-सामान्य के लिए सन्तोषदायक नहीं है।

सूरदास जी पुन: कहते हैं कि इतना ही नहीं, जन- साधारण उस निर्गुण को प्राप्त करने तथा उससे मिलने के लिए कोई रास्ता भी नहीं निकाल पाता है अत: वह उसमें अपने मन को नहीं रमा पाता। अन्त में कवि कहता है कि आचार्यों ने जिस ईश्वर को दुर्बोध कहा है, मैं यहां उसी निर्गुण ब्रह्म के गुणों की चर्चा करता हूं। अर्थात् ब्रह्म में जो गुण हैं, उन्हीं का वर्णन यहां किया जा रहा है। इस प्रकार सूरदास ने, यहां यह संकेत किया है कि ब्रह्म को निर्गुण अर्थात् बिना किसी गुण का मानना उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्म में तो कुछ न कुछ गुण अवश्य हैं और उन्हीं का यहां उल्लेख भी किया जा रहा है।

27. **प्रभु ! हौं सब पतितनि को टीकौ।**
और पतित सब दिवस चार के, हौं तो जनमत ही कौ।
बधिक, अजामिल, गनिका तारी और पूतना ही कौ।
मोहिं छाँड़ि तुम और उधारै, मिटै सूल क्यों जी कौ।
कोउ न समरथ अघ करिबै कौ, खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितनि मैं, मोहूं तै को नीकौ॥

प्रसंग- पूर्ववत् ।

व्याख्या- हे प्रभु ! मैं सभी दुष्टों में नायक (अर्थात् सर्वोपरि) हूँ। प्रमाण ? अन्य पतित तो केवल चार दिनों (अर्थात् थोड़े समय) से ही पतित हुए हैं जबकि मैं तो जन्म से ही पतित हूँ। (पतित-पावन होने के कारण) आपने बधिक (वाल्मीकि) अजामिल, गणिका एवं पूतना (जैसे पतितों) का उद्धार कर दिया। मेरे मन से यह दु:ख कैसे मिटे कि मुझ (जैसे जन्मजात) पतित को छोड़ तुम दूसरे पतितों का उद्धार करते रहे। मेरी तरह पाप करने में समर्थ और कोई भी नहीं है (अर्थात् मैं सर्वोपरि पापी हूँ)। यह बात मैं रेखा खींचकर (अर्थात् पूर्ण विश्वास के साथ) कहता हूँ। सच में तो मैं पतित-समाज में लाजवश मर रहा हूँ कि मुझसे भी अधिक श्रेष्ठ (पतित) और कौन है (जिनका आप मुझसे भी पहले उद्धार करते हो)।

विशेष- (1) *यहाँ पर कवि ने लोकप्रचलित मुहावरों का सटीक प्रयोग किया है।*

(2) *'बधिक.....पूतना ही कौ' में पौराणिक अंतर्कथाओं के संकेत हैं।*

28. **अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।**
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत, निन्दा सब्द-रसाल।

भ्रम-भोयो मन भयो पखावज, चलत असंगत चाल॥
तृष्ता नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यो, लोभ-तिलक दियो भाल॥
कोटिक कला काछि दिखराई, जल-थल सुधि नहीं काल।
सूरदास की सबै अबिद्या, दूरि करौ नंदलाल॥

प्रसंग- भक्त और भगवान के मध्य की सबसे भयंकर बाधा है-माया जो भक्त (जीव) को लोभ-मोहादि नाना तरह से लुभाकर न सिर्फ भरमाती है वरन् पथभ्रष्ट भी करती है। माया के वशीभूत हुए जीव की ऐसी ही विवशता-भरी स्थिति को मुखरित करते तथा इससे मुक्ति की याचना करते हुए कवि कहता है-

व्याख्या- हे (इन्द्रियों का पालन करने वाले होने से गोपाल कहलाने वाले) कृष्ण! (इस माया के वश में होकर) अब तक मैं बहुत नाच चुका हूँ। (इस नृत्य को करने के लिए) मैंने काम-क्रोध के वस्त्र पहिने हैं तथा मेरे कंठ में विषय (लोलुपता) की माला है। महामोह के घुँघरू (मेरे पैरों में बँधे हुए होकर) बजते हैं जिनसे निकले निन्दा के शब्द (माया के वशीभूत होने के कारण मुझे) मधुर प्रतीत होते हैं। भ्रम भोयन है तो मद पखावज जिसके इशारे पर मैं असंगति की चाल चलता हूँ। हृदय के भीतर से तृष्णा संगीत-ध्वनि करती है एवं नाना तरह से ताल देती है। अपनी कटि पर मैंने माया का फेंटा बाँधा है एवं माथे पर लोभ का तिलक लगा रखा है। (इस प्रकार नृत्य की पूरी साज-सज्जा के साथ) करोड़ों कलाएं और नृत्य मुद्राएं दिखाई हैं। (वह भी इतना मस्त होकर कि) जल-थल तथा समय की सुधि भी मुझे नहीं रही। हे नन्द के पुत्र! मेरी सब अविद्या को दूर करो।

(1) **अलंकार-** (क) श्लेष-नाच्यो। (ख) सांगरूपक-समस्त पद में। (ग) अनुप्रास-कोटिक...काछी।

(2) 'मैं नाच्यौ' का प्रयोग एकदम सटीक और सार्थक बन पड़ा है।

29. **मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।**
जैसे उड़ि जहाज कौ पच्छी फिर जहाज पर आवै॥
कमल नैन को छाँड़ि महातम,और देव कौ ध्यावै।
परम गंगा कौ छाँड़ि पियासौ दुरमति कूप खनावै॥
जिहिं मधुकर अंबुज-रस चाख्यो, क्यों करील-फल भावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरि कौन दुहावै॥

प्रसंग- कवि को अपने इष्टदेव पर अनन्य और अगाध श्रद्धा है। इसी भावना को प्रकट करते हुए वह कहता है-

व्याख्या- मेरा मन (श्रीकृष्ण-भक्ति के अतिरिक्त) और कहाँ पर सुख पा सकता है? (कहीं नहीं, कारण यह है कि वह तो कृष्ण का ही अनन्य उपासक है) जिस तरह किसी जलयान पर बैठे हुए पक्षी को (विस्तृत आकाश में उड़ने पर भी चारों तरह अथाह जल होने के कारण) कहीं और आश्रय नहीं मिलता तथा वह पुन: उसी जलयान पर आता है, उसी तरह मेरे मन को भी किसी अन्य की उपासना से शान्ति नहीं मिलती तथा वह पुन: कृष्ण-उपासना में ही सुख एवं आत्मशान्ति प्राप्त करता है। कमल जैसे (निर्मल और सुन्दर) नेत्रों वाले श्रीकृष्ण के माहात्म्य या महानता को छोड़कर जो व्यक्ति किसी दूसरे देवता का ध्यान करता है वह तो ऐसा मूर्ख है जो पवित्र गंगा (जल) को छोड़ अपनी प्यास बुझाने के लिए नया कूप खोदे। जिस भ्रमर ने कमल (के पराग जैसे स्वादिष्ट) रस का पान किया हो उसको करेले का (कड़ुवा) फल किस प्रकार अच्छा लग सकता है? ऐसा कौन मूर्ख

होगा जो सूर के प्रभु (कृष्ण) रूपी कामना-पूर्ति करने वाली धेनु को तजकर बकरी को दुहेगा (जिससे कम से कम सुख भी नहीं मिलता)।

विशेष- *(यहाँ पर कवि की अनन्य और अटल भक्ति-भावना प्रदर्शित हुई है।*

(2) **अलंकार-** *(क) दृष्टान्त-जैसे...आवै, परम...दुहावै। (ख) उपमा-कमल नैन। (ग) रूपक-प्रभु-कामधेनु*

30. **हमारे प्रभु औगुन चित्त न धरौ।**
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ।
इक लोहा पूजा मैं राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ।
इक नदिया इक नार कहावत, मेलौ नीर भरौ।
जब मिलि गए तब एक वरन ह्वै, गंगा नाम परौ।
तन माया, ज्यौं ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरौ।
कै इनको निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ।

संदर्भ एवं प्रसंग- प्रस्तुत अवतरण महाकवि सूरदासजी द्वारा रचित महाकाव्य 'सूर सागर' के 'विनय के पद' प्रसंग से अवतरित है। प्रस्तुत पद में भक्त भगवान से अपनी मुक्ति के लिए प्रार्थना कर रहा है। सूरदास अपनी दैन्य- भावना प्रकट करते हैं तथा भगवान की महानता का वर्णन करते हैं :

व्याख्या- हे प्रभु। मेरे अवगुणों (दोषों) पर ध्यान न दीजिये। आपका नाम तो समदरसी है अर्थात् आप सबको समान दृष्टि से देखने वाले हो। अत: आपको मुझ पर उतनी ही कृपा करनी चाहिये कि जितनी अन्य लोगों पर आपकी कृपा है। अतएव अपनी प्रतिज्ञा का पालन करो। एक लोहा तो पूजन- कार्य में काम आता है और एक लोहा बधिक के घर छुरे के रूप में है परन्तु पारस पत्थर इस प्रकार की दुविधा में न पड़कर दोनों को खरा सोना बना देता है। एक नदी जिसमें स्वच्छ तथा उज्जवल जल भरा रहता है और एक नाला है जिसमें गन्दा तथा अपावन जल भरा होता है, परन्तु जब दोनों मिल जाते हैं तो दोनों का रंग एक हो जाता है और गंगा शब्द से ही अभिहित किये जाते हैं। इसी प्रकार एक ब्रह्म है और एक जीव है। ब्रह्म स्वच्छ तथा निर्मल है एवं जीवात्मा अज्ञान तथा पाप के कारण अपवित्र है, किन्तु मिलने पर जीव ब्रह्ममय हो जाता है। यह तन माया है, भ्रम है। यही ब्रह्म है परन्तु सूर से सम्बन्ध होने के कारण यह दूषित हो गया है। हे भगवान् इस दूषित जीवन (सूरदास) का या तो उद्धार कर दो अन्यथा आपका (पतित- तारन) समदर्शी होने का प्रण टूट जायेगा।

31. **सरन गए को, को न उबार्‌यौ।**
जब जब भीर परी संतनि कौ, चक्र सुदर्शन तहाँ सम्भार्‌यौ।
भयौ प्रसाद जु अंबरीस को, दुरबासा को क्रोध निवार्‌यौ।
ग्वालिन हेत धर्‌यौ गोबर्धन, प्रकट इन्द्र को गर्व प्रहार्‌यौ।
कृपा करी प्रहलाद भक्त पर, खंभ फारि हिरनाकुस मार्‌यौ।
नरहरि रूप धरयौ करूनाकर, छिनक माहि उन नखनि बिदार्‌यौ।
ग्राह ग्रसत नज कौ जल बूड़त, नाम लेत वाको दुख टार्‌यौ।
सूर स्याम बिनु और केरे को, रंग भूमि मैं कंस पछार्‌यौ।

प्रसंग- प्रस्तुत पद्यांश महाकवि सूरदास द्वारा रचित सूरसागर से अवतरित है। यहाँ भगवान के अशरण-शरण रूप पर प्रकाश डाला गया है।

व्याख्या- किस शरणागत को भगवान ने नहीं उबारा? जब-जब सन्तों पर विपत्ति पड़ी, वहीं सुदर्शन चक्र संभाल लिया। जो अम्बरीष पर प्रसन्न हो गये तथा दुर्वासा के क्रोध को रोक दिया। ग्वालिनों के लिए गोवर्द्धन धारण किया; प्रकट होकर इन्द्र के गर्व पर प्रहार किया। भक्त प्रह्लाद पर कृपा की, खम्भे को फाड़कर हिरणाकश्यप को मारा। करुणाकर भगवान् ने नृसिंह रूप धारण किया, क्षण में ही सीने को नाखूनों से विदीर्ण कर दिया। ग्रास से ग्रसे जाते, जल में डूबते हाथी के दुःख को नाम लेते ही हटा दिया। सूरदास कहते हैं, श्याम के बिना और कौन कर सकता है, रंगभूमि में उन्होंने कंस को पछाड़ दिया।

विशेष- (1) *दृष्टान्त अलंकार।*

(2) *भगवान् की शरणागत की रक्षा का वर्णन किया गया है।*

32. **जसुमति मन अभिलाष करै।**
कब मेरो लाल घुटुरुवनि रेंगे, कब धरती पग द्वैक धरै।
कब द्वै दांत दूध के देख, कब तोतरे मुख वचन करै।
कब नंदहिं बाबा कहि बोले, कब जननी कहि मोहि ररै।
कब मेरौ अंचरा गहि मोहन, जोई-सोई कहि मोसौं झगरै।
कब धौं तनक तनक कछु खैहें, अपने कर सौं मुखहिं भरै॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश महाकवि सूरदास द्वारा रचित सूरसागर से अवतरित है। यहां मां यशोदा कृष्ण के शीघ्र बड़े होने की कामना कर रही हैं।

व्याख्या- वात्सल्य भाव से भरी मां कृष्ण को देखकर मन ही मन कई अभिलाषा करती हैं-कब मेरा लाल घुटनों के बल चलेगा, कब धरती पर डगमगाते हुए, एक-दो कदम रखेगा, वह शुभ दिन कब आएगा जब मैं अपने लाल के मुख में दूध के दो दांत देखूंगी, कब उसके मुख से तोतले वचन निकलेंगे, कब नंद जी को 'बाबा', 'बाबा' कहकर बोलेगा, कब मुझे मां कहकर प्रेमपूर्ण झगड़ा करेगा (या 'बाबा', 'बाबा', 'मां-मां' की रट लगाएगा), कब मेरा आंचल पकड़कर जिस किसी चीज के लिए मुझसे झगड़ा करेगा; कब थोड़ा-थोड़ा कुछ खाएगा तथा कब स्वयं अपने हाथों से खाने की वस्तएं लेकर अपना मुंह भरेगा।

विशेष- (1) वात्सल्य रस। (2) लोकगीत शैली का प्रभाव।

33. **किलकत कान्ह घुटुरुनवनि आवत।**
मनिमय कनक नंद कैं आंगन, बिंब पकरिबैं धावत॥
कबहुं निरखि हरि आपु छांह कौं, कर सौं पकरन चाहत।
किलकत हंसत राजत द्वै दतियां, पुनि-पुनि तिहिं अवगाहत॥
कनक-भूमि पर कर-पग-छाया, यह उपमा इक राजति।
करि-करि प्रतिपद प्रतिमनि बसुधा, कमल बैठकी साजति॥
बाल-दशा-सुख निरखि जसोदा, पुनि-पुनि नंद बुलावति।
अंचरा तर लै ढांकि, सूर के प्रभु कौं दूध पियावति॥ (राग धनाश्री)

प्रसंग- कृष्ण की बाल लीला का वर्णन है।

व्याख्या- किलकारी मारते हुए कन्हैया घुटनों के बल चले आ रहे हैं। मणि से बने हुए सुनहले नन्द के आंगन में वे अपनी परछाईं को पकड़ने के लिए दौड़ रहे हैं। कभी तो कृष्णजी अपनी छाया को देखकर उसे हाथ से पकड़ना चाहते हैं तथा कभी वे किलकारी मारकर हँसते हैं। उनके दो दाँत दिखाई पड़ते हैं एवं वे अपनी परछाईं को बार-बार खोजते हैं। ऐसा करने से आंगन की स्वर्णभूमि की प्रत्येक मणि पर उनके हाथ-पैर की परछाई ऐसी लगती है, मानो पृथ्वी उनके बैठने के लिए कमल का आसन सजा रही हो। कृष्णजी के बचपन के सुख को देखकर यशोदाजी बार-बार नन्दजी को बुलाती हैं। सूरदासजी कहते हैं कि यशोदाजी अपने आंचल के नीचे कृष्णजी को ढककर उन्हें अपना दूध पिलाती हैं।

विशेष- (1) *वात्सल्य रस।*

(2) *अनुप्रास अलंकार।*

34. **मैया कबहि बढ़ेगी चोटी ?**

किती बार मोहि दूध पियत, भई यह अजहूं है छोटी।
तू तो कहत बल की बेनी, ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त-गुहत न्हवावत, जैहे नागिन सी भुई लोटी।
काचौ दूध पियावति, पचि पचि देति न माखन रोटी।
सूर चिरजीवी दोऊ भैया, हरि हलधर की जोरी।

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश महाकवि सूरदास द्वारा रचित सूरसागर से लिया गया है। सूरदास ने इसमें कृष्ण के बाल्य रूप का चित्रण उतारा है।

व्याख्या- नन्हा कृष्ण माता यशोदा से कहता है-मां ! मेरी चोटी कब बढ़ेगी ? मुझे कितने ही दिन दूध पीते हुए बीत गए हैं, परंतु यह अभी तक भी छोटी है, तू तो कहा करती थी कि बड़े भाई बलदेव की भांति तुम्हारी चोटी भी लंबी और ज्यादा मोटी हो जाएगी। काढ़ने, कंघी से साफ करने, गुंथने और नहलाने से तेरी चोटी भी सांपिनी की तरह धरती पर लोटने लगेगी। तू मुझे पुचकार-पुचकार कर कच्चा दही दूध पीने को देती रही। मुझे तूने मक्खन रोटी नहीं दी। सूरदास कहते हैं कि कृष्ण और बलदेव की जोड़ी देर तक जीती रहेगी का चित्रण किया है।

35. **मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायौ।**

मोसौं कहत मोल को लीन्हौं, तू जसुमति कब जायौ।
कहा करौ इहि रिस कै मारे खेलन हौं नहीं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात।
गोरे नंद जसोदा गोरी तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसकात।
तू मोही कों मारन सीखीं दाऊहिं कबहूँ न खीझै।
मोहन सुख रिस की ये बातैं, जसुमति सुनि-सुनि रीझै।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत।
सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत।

प्रसंग- प्रस्तुत पद्यांश महाकवि सूरदास द्वारा रचित सूरसागर से अवतरित है। यहाँ श्रीकृष्ण अपने भाई बलराम (दाऊ) की शिकायत अपनी माता यशोदा से कर रहे हैं।

व्याख्या- माँ से बड़े भाई बलदाऊ की शिकायत करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि माँ ! बलदाऊ मुझे बहुत चिढ़ाते हैं, मुझसे कहते हैं कि हमने तुझे मोल लिया है, माँ यशोदा ने तो तुझे जन्म दिया ही नहीं। अब मैं तुझसे क्या बताऊँ माँ, मैं तो इसी क्रोध के कारण (कि खेलने जाऊँगा तो दाऊ फिर मुझे चिढ़ाएगा) खेलने तक नहीं जाता। (एक बार नहीं, दो बार नहीं) बार-बार मुझसे कहता है कि अच्छा, सच-सच बता कि माता कौन है तथा पिता कौन है, क्योंकि तू नन्द-यशोदा का पुत्र तो है नहीं, भला कहाँ गौरवर्णी यशोदा एवं नन्द तथा कहाँ तू काले (साँवले) शरीर वाला, अगर तू नन्द-यशोदा का पुत्र होता तो उनकी तरह या मेरी तरह गोरा-चिट्ठा नहीं होता? दाऊ की इस बात पर सभी ग्वाल-बाल चुटकी बजा-बजाकर हँसते हैं तथा मुझे जबरन अपने साथ नचाते भी हैं (मैं तो ग्वाल-बालों और दाऊ के इस व्यवहार से बहुत दुखी हो गया हूँ) और एक तू है कि मुझे ही मारना सीखी है (चाहे मेरा कसूर है या नहीं) दाऊ से तो कभी कुछ नहीं कहती। (कहीं ऐसा तो नहीं है कि बलराम ही तेरा पुत्र हो एवं मैं तेरा पुत्र न होऊँ, इसलिए मुझे ही बार-बार मारती है) माँ यशोदा मोहन के (भोले-भाले) मुख से क्रोध भरी यह शिकायत (बातें) सुनकर मन ही मन प्रसन्न हो रही हैं (कि अब मेरा लाल इतना बड़ा तथा समझदार हो गया कि शिकायत भी करने लगा है) लेकिन फिर सचेत होकर कृष्ण के क्रोध को दूर करने के उद्देश्य से कहती है कि हे कान्हा ! सुनो, (तुम्हे शायद पता नहीं है) यह बलराम तो बहुत ही झूठा, चुगलखोर है, और आज से नहीं, बचपन से ही धूर्त (शैतान) है। सूरदास कहते हैं कि माँ कान्ह को विश्वास दिलाने के उद्देश्य से कहती हैं कि हे कान्ह ! देख, मैं गोधन की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि मैं तेरी माता हूँ तथा तू मेरा ही पुत्र है। (तू बेकार में उस शैतान दाऊ की बातों में आकर बुरा मत मान)।

विशेष- (1) *वात्सल्य रस।*

(2) *बाल सुलभ चेष्टाओं का सुन्दर वर्णन किया गया है।*

(3) *सूरदास को बाल मनोविज्ञान का पूर्ण ज्ञान या प्रतीत होता है।*

36. **खेलत में को काको गुसैयां**
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयां
जाति पांति हमसे बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयां॥
अति अधिकार जनावत यातैं, जातैं अधिक तुम्हारी गैयां।
रूठहि करै तासौं को खेले, रहे बैठि जहं-तहं सब गुइयां
सूरदास प्रभु खेल्योई चाहत, दांउ दियौ करिनंद-दुहैयां॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश महाकवि सूरदास द्वारा रचित सूरसागर से लिया गया है। प्रस्तुत पद्यांश में सूरदास ने बालकृष्ण की बाल क्रीड़ाओं का सुंदर वर्णन किया है।

व्याख्या- श्रीकृष्ण हार गए, श्रीदामा जीत गए, श्रीदामा ने श्रीकृष्ण से कहा-खेल में कोई किसी का मालिक नहीं होता, जबरदस्ती नाराज होते हो। जाति में भी तुम बड़े नहीं, तुम्हारा मैं सेवक भी नहीं, केवल कुछ गायों के अधिक होने से अधिकार दिखा रहे हो, जो बात-बात में नियम विरुद्ध खेले, उसके साथ कौन खेले। ऐसा कहते हुए उनके साथी खेल बंद कर बैठ गए। श्री कृष्ण खेलना चाहते थे। श्रीकृष्ण ने नंद की दुहाई देकर दांव दी तथा खेल फिर शुरू हुआ।

37. **मैया बहुत बुरो बलदाऊ।**
आपुहिं आपु बलकि भए ठाढ़े, अब तुम कहा रिसाने॥
बीचहिं बोलि उठे हलधर, तब याके माई न बाप।

हारि-जीत कछु नैकुं न समुझत, लखिनि लावत पाप ॥
अपनु हरि सखनि सौ झगरत यह कह दियो पठाई ।
सूर स्याम उठि चले रोइ कै, जननि पूछत धाई ॥

प्रसंग- श्रीकृष्ण की बाल लीला का वर्णन है ।

व्याख्या- श्रीकृष्ण जी अपनी माँ से कहते हैं, बलराम जी बहुत बुरे हैं । कृष्णजी नाराज हो गए हैं । पहले तो अपने आप आवेश में आकर खड़े हो गए थे, तो अब क्रोधित हो रहे हैं । बीच में ही बलराम बोल उठे-इसके न माँ है न पिता, यह हार जीत की बात तनिक भी नहीं जानता, पाप लड़कों को लगता है । आप तो हार गया तथा अब सखाओं से झगड़ा करता है । यह कहकर उन्होंने कृष्णजी को भेज दिया । माँ ने उन्हें देखा तो दौड़कर पूछने लगी । इसलिए कृष्णजी ने माँ से कहा-मैया बहुत बुरो बलदाऊ ।

विशेष- *वात्सल्य रस ।*

(2) *पुनरुक्तिप्रकाश अलंकार ।*

38. **चोरी करत कान्हि धरि पायें ।**
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी ॥
मन मैं यहै विचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाऊँ ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सबकै माखन खाऊँ ॥
बालरूप जसुमति मोहिं जानै, गोपिनि मिलि सुख भोग ।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सों, ये मेरे ब्रज लोग ॥

प्रसंग- बाल लीला का वर्णन है ।

व्याख्या- कृष्ण जी ने पहली बार माखन चोरी की । गोपी की इच्छा पूरी करके वे ब्रज की गलियों में भाग गए । कृष्णजी मन में यही विचार कर रहे थे कि ब्रज के घर-घर में जाऊँगा । गोकुल में मैंने आनन्द प्राप्त करने के लिए जन्म लिया है, तो सबका मक्खन खाऊँगा । यशोदा माँ मुझे वात्सल्य भाव से जानती हूँ, पर गोपियाँ प्रेम भाव से जानती हैं, अत: इनसे उसी भाव से मिलकर सुख-विलास करूँगा । सूरदास जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण प्रेमपूर्वक कहते हैं कि ये गोपियाँ तो मेरी अपनी हैं ।

विशेष- *वात्सल्य रस का सुन्दर चित्रण किया गया है ।*

39. **मैया मैं नहिं माखन खायो ।**
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ ।
देखि तुही सीके पर भाजन, ऊंचे धरि लटकायो ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि एक कोन्हीं, दोना पीठि दुरायो ।
डारि सांटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ ।
बाल विनोद मोह मन मोह्यो, भक्ति प्रताप दिखायौ ।
सूरदास जसुमत को यह सुख, सिव बिरंचि नहिं पायौ ।

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश महाकवि सूरदास द्वारा रचित सूरसागर से अवतरित है । कृष्ण ग्वालिन के द्वारा माखन चोरी की शिकायत करने पर मां यशोदा के सामने माखन न खाने की सफाई प्रस्तुत कर रहे हैं ।

व्याख्या- मां के बहुत कुछ कहने पर कृष्ण ने बड़े ही भोलेपन से कहा कि मैया ! सच मानना, मैंने (चोरी करके) माखन नहीं खाया है। (मां ने कहा कि कान्हा ! तू अभी भी मुझसे छल कर रहा है। अच्छा, यदि तूने माखन नहीं खाया तो यह तेरे मुख पर कैसे लगा है), मां के इस कथन पर कृष्ण ने फिर चतुराई से कहा-मुझे ऐसा ख्याल पड़ता है कि जैसे इन सखाओं ने मिलकर जबर्दस्ती मेरे मुंह पर लिपटा दिया है। अब तू ही देख, छींके को ऊपर करके तूने इतनी ऊपर लटकाया हुआ है, तथा तू ही बता, इतने ऊंचे पर लटके भाजन को भला मैं अपने छोटे-छोटे हाथों से कैसे पा सकता हूं? अब जैसे ही मां का ध्यान छींके की ओर गया, तुरंत कृष्ण ने एक चतुराई की, मुंह पर लगा दधि पोंछ लिया और माखन से भरा दौना पीछे छिपा लिया। कृष्ण की इस चातुरी को देखकर मां का सारा क्रोध शांत हो गया, उसने सांटी (पीटने वाली छड़ी) को पटक दिया तथा मुस्करा कर कृष्ण को गले से लगा लिया। वात्सल्य भाव से आराधना करने वाली मां को प्रभु ने अपनी भक्ति का प्रताप दिखाया तथा अपने बाल विनोद से मां का मन विमोहित कर लिया। सूरदासजी कहते हैं कि इस प्रकार हरि के साथ क्रीड़ामग्न मां निशदिन जिस सुख का अनुभव करती हैं, वह तो भगवान शंकर तथा ब्रह्मा जी को भी सुलभ नहीं है।

विशेष- (1) वात्सल्य रस का सुंदर चित्रण। (2) अनुप्रास अलंकार।

तुलसीदास

40. **गाइये गनपति जगबंदन। संकर सुवन भवानी नंदन॥**
सिद्धि सदन गज बदन बिनायक। कृपा सिंधु सुन्दर सब लायक॥
मोदक प्रिय मुद मंगल दाता। बिद्या बारिधि बुद्धि बिधाता॥
माँगत तुलसिदास कर जोरे। बसहिं रामसिय मानस मोरे॥

सन्दर्भ एवं प्रसंग- उपरोक्त पंक्तियाँ तुलसीदास द्वारा रचित "विनय पत्रिका" से ली गई हैं। गणेश स्तवन निर्विध्न ग्रन्थ समाप्ति एवं मंगल कामना के लिए है। यहाँ कवि गणेश के विविध सन्दर्भों का स्मरण करता हुआ 'राम सीता' की आत्यान्तिक सन्निकटता की प्राप्ति की याचना उनसे करता है।

व्याख्या- शिव पुत्र पार्वती के आनन्ददाता (आत्मज) विश्व हेतु वन्दनीय गणेश का गान किया जाए। हस्ति मुख वाले, सिद्धि के आगार गणों के श्रेष्ठ नायक (श्री गणेश) आप, कृपा के समुद्र, सुन्दर एवं सर्वथा समर्थ हैं। मोदक प्रिय (गणेश) आनन्द तथा शुभ दोनों को देने वाले विद्या के अगाध आधार, बुद्धि के विनियोजक हैं।

इन शुभ गुणों से युक्त गणेश से कवि तुलसीदास हाथ जोड़कर याचना करता है कि वे (ऐसा आशीर्वाद दे) जिससे 'राम सीता' युगल रूप से मेरे हृदय में निरन्तर निवास करें अर्थात् मेरे मन, कर्म, वचन सभी निरन्तर उन कार्यों में संसक्त रहें, जिनसे 'राम सीता' निरन्तर मेरे हृदय में निवास करते रहें-'राम सीता' के अलावा मन, कर्म, वाणी की गति अन्यत्र न हो।

विशेष- गणेश वन्दना का सन्दर्भ तुलसीदास की अन्य कृतियों यथा-रामचरितमानस, बरवै, रामललानहछू, जानकी मंगल आदि में मिलता है। अन्य स्थलों पर कवि अधिकांशतया इनसे 'मंगल' की याचना करता है। निर्विध्न ग्रन्थ समाप्ति 'मंगल' का एक प्रकरण है, ग्रन्थ की सम्पूर्णता अनिष्टकारी न हो-यह भी मंगल से सन्दर्भित है, 'लोकमंगल' का भी प्रकरण कृति के प्रतिफल तथा पाठकों के आत्यान्तिक हित से जुड़ा है। वक्ता-श्रोता का भी मंगल इसी गणेश वन्दना से है-मानस में कवि कहता है।

41. **अब लौं नसानी, अब न नसैहों।**

रामकृपा भव- निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं।

पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं।

स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहों।

परबस जानि हंस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हंसैहों।

मन मधुकर पन कै तुलसी रघुपति पद कमल बसैहौं॥

सन्दर्भ एवं प्रसंग- प्रस्तुत अवतरण महाकवि तुलसीसजी द्वारा रचित 'विनय पत्रिका' से अवतरित है। विनय- पत्रिका के प्रस्तुत पद में गोस्वामी जी अपने किए हुए पापों का पश्चाताप करते हुए पुनः न करने की बात प्रभु को सम्बोधित करते हुए कहते हैं :

व्याख्या- हे प्रभु मैं अब तक तो भूला रहा और मोह- माया में फंसा रहा किन्तु अब आपको नहीं भूलूंगा। राम की कृपा से सांसारिक मोह माया रूपी रात्रि समाप्त हो गई है। अब जागने पर अर्थात् ज्ञान प्राप्त होने पर पुनः इसमें लिप्त नहीं होऊंगा। मैंने अब आपके नाम रूपी सुन्दर चिन्तामणि प्राप्त कर ली है, अब इसे कदापि नहीं खोऊंगा। मुझे श्याम सलोने राम के नाम की सुन्दर कसौटी प्राप्त हो गई है। इस कसौटी पर अपने चित्त रूपी सोने को परखूंगा। अब तक मैं इन इन्द्रियों के वशीभूत होकर परवश रहा, जिससे मेरी हंसी हुई किन्तु अब मैं अपनी हंसी नहीं कराऊंगा। अब मैं अपने मन रूपी भौंरे को रामचन्द्र जी के चरण- कमलों में बसाऊंगा।

42. **जाऊँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।**

काको नाम पतित पावन जग, केहि अति दीन पियारे॥

कौने देब बराइ बिरद-हित हठि हठि अधम उधारे।

खग, मृग, व्याध पषान, बिटप जड़, जवन कवन सुर तारे॥

देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुजा सब माया-बिबस बिचारे।

तिनके हाथ दास तुलसी-प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥

सन्दर्भ एवं प्रसंग - प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'विनय पत्रिका' से लिया गया है। अपने आराध्य देव श्रीराम के प्रति अपनी अनन्य - अगाध भक्ति भावना और उसके अन्तर्गत उनकी महानता और गुणवत्ता का बखान करते हुए कवि तुलसी दास ने कहा है-

व्याख्या - (हे प्रभु राम !) तुम्हारे चरणों (आश्रय को) को त्याग कर और कहाँ जाऊं (भला बताओ तो सही कि) पूरे ब्रह्माण्ड में (आपके समान और) किसका नाम पतितों के लिए पवित्र (अथवा पतितों को पवित्र कर देने वाला) है ? (आप ही) बताओ कि दीन जनों के लिये इतना प्यारा और कौन है ? (अथवा दोनों को प्रिय लगने वाले राम ! आप ही कहो कि इस संसार में, आपके अतिरिक्त, और किसका नाम पतित-पावन है ? किसी का भी नहीं है ना और कौन (आपकी भाँति) ऐसा देवता है जिसने अपने बड़प्पन और यश के लिए हठ कर-करके अधम जनों का उद्धार किया हो ? (अधम भी केवल मनुष्य ही नहीं वरन) पक्षी (जटायु) हिरन (रूपधारी मारीचि), पत्थर (वतबनी अहिल्या), जड़ वृक्ष (यमलार्जुन नामक वृक्ष जिससे बालकृष्ण को बाँधा गया था) और न जाने कितने देवताओं को तारा हो। वस्तुतः देवता, दानव, मुनि, नाग और मनुष्यादि बेचारे सभी (योनियों और जातियों के लोग आपकी ही) माया के वशीभूत हैं (अथवा बेचारे सभी तो माया से विवश बने हुए हैं)। हे प्रभु ! यह तुलसीदास अपने आप को उनके हाथों में सौंप कर क्यों हारे ? कारण से छुड़ाने वाले हैं - श्रीराम जिनका महिमागान करके और उनसे कृपा की याचना करते हुए कवि (जीव) कहता है।

विशेष - (1) प्रथम पंक्ति में इष्टदेव के प्रति अनन्य विश्वास भावना है तथा शेषांश में उसका गुण-कथन है जो भक्ति की एक प्रमुख अवस्था है। (2) 'खग तारे' में विभिन्न पौराणिक अंतर्कथाओं के संकेत हैं। (3) यहाँ पर भाषा - सारल्य और तर्क-विशेष दृष्टव्य है। (4) अलंकार- अनुप्रास, पुनरूक्ति। (5) यहाँ पर विनय भावना अत्यन्त भावोत्प्रेरक रूप में अभिव्यक्त हुई हैं।

43. **केसव ! कहि न जाई का कहिये।**
देखत तब रचना विचित्र हरि। समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र, रंग, नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे।
रबिकर-नीर बसै अति दारून मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल, प्रबल कोउ माने।
तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम, सौ आपुन पहिचानै॥

सन्दर्भ एवं प्रसंग - प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'विनय पत्रिका' से लिया गया है। इस पद में गोस्वामीजी ने आत्मबोध की महत्ता का दिग्दर्शन कराया है और दिखाया है कि भ्रम के नष्ट हो जाने पर ही यह अवस्था प्राप्त हो सकती है।

व्याख्या - हे केशव ! आपकी इस अद्‌भुत रचना को देखकर मन ही मन समझकर रह जाता हूं, उसका कुछ वर्णन नहीं करते बनता। आपकी यह रचना ऐसी है जैसे किसी निराकार चित्रकार ने शून्य दीवार पर बिना रंग के ही चित्र बनाये हैं। (तात्पर्य यह है कि निराकार ब्रह्मा ने मायारूपी दीवार पर अथवा आकाश पर जो शून्य जैसा प्रतीत होता है ऐसे-ऐसे विचित्र चित्र खींचे जिनमें रंगो का लेशमात्र भी नहीं है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि प्रकृति के शून्याधार पर, असत्य के आश्रय पर, पांच भौतिक रचना का प्रसार किया है, और उस रचना में स्थूल, सूक्ष्म कारण आदि शरीर हैं, जिनका कोई रंग, कोई रूप निश्चित नहीं होता।) इन चित्रों की विशेषता यह है कि धोने पर भी ये नहीं मिटते (अर्थात् कर्मादि करने से यह पांच भौतिक रचना नाश को प्राप्त नहीं होती, वरन् और पक्की हो जाती है। इस चित्रकारी को मरने का भी भय नहीं होता लेकिन इन चित्रों को सदा मृत्यु भय रहता है। (एक उल्टी बात और है कि) इन चित्रों को देखने से भय होता है। भाव यह है कि इस सृष्टि में मोह ममतामय भय सदा उपस्थित रहता है, विषयरूपी पिशाच डराते रहते हैं और मन जो दारूण दुख देता है वह प्रत्येक को ज्ञात है, इसलिए इन चित्रों की ओर देखना महान भयावह तथा दुखदायी है। ग्रीष्म ऋतु में, सूर्य की किरणों में जो जल की लहर भी दिखाई देती है, उसमें एक भयानक मगर रहता है जो कि बिना मुख के उन सबको, जो वहां जल पीने जाते हैं, चाहे वे जड़ हों या चेतन, खा जाता है। (भाव यह है कि यह संसार मृगजल के समान भ्रममय है जैसे सूर्य की किरणों को जल समझकर मृग प्यास में व्याकुल हुए उस और दौड़ते हैं परन्तु निरन्तर भागने पर जल आगे बढ़ता हुआ ही दिखाई देता है और वे उसी के पीछे दौड़ते हुए मर जाते हैं। इसी प्रकार इस अविघाजन्य मिथ्या संसार के विषयों में जो तृप्ति ढूंढना चाहते हैं, उन्हें तृप्ति तो नहीं मिलती, हां उसी में संलग्न रहने पर उन्हें एक दिन बिना मुख वाला काल रूपी मगर खा जाता है। कोई तो इस रचना को सत्य कहता है और कोई मिथ्या तथा किसी-किसी के मत से यह सत्य और मिथ्या दोनों है। किन्तु तुलसीदास कहते हैं कि वे तीनों ही भ्रम हैं। इस तीनों को छोड़कर जो भगवान की शरण में रहेगा, वही आत्मा का वास्तविक स्वरूप पहचान सकेगा।

विशेष (1) रविकर - नीर - यहां भ्रम की सत्यता का प्रमाण मारीच की कथा से अधिक क्या होगा ? मृग को (मरीचिका रूपी मारीच को) देखकर रघुनन्दन भी धोखा खा गये। रेगिस्तान

में जलाशय मिलना उतना ही असम्भव है जितना स्वर्ण मृग। (2) कोऊ कह सत्य - पूर्व मीमांसा वाले अथवा द्वैतवादी तथा विशिष्टा-द्वैतवादी कर्मप्रधान जगत् को सत्य मानते हैं। मनु, दक्ष, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि इसी सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। अद्वैतवादी वेदान्ती (शंकराचार्य के मतावलम्बी) केवल ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करते हैं वे जगत को मिथ्या या भ्रम मानते हैं । उनके मतानुसार जगत उसी ब्रह्म की सत्ता में इस प्रकार भासित होता है, जिस प्रकार रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाता है।(3) समग्र रूप से गोस्वामी जी ने इस पद में संसार को 'भ्रम' ही बताया है और प्रकार शंकर के मायावाद (अद्वैतवाद) के प्रति निष्ठा व्यक्त की है। (4) केशव शब्द साभिप्राय है - केशवाला। यह सर्वव्यापी अन्नत नीला आकाश उसके केश हैं।

अलंकार - रूपक, विभावना।

44. **कबहुंक अब अवसर पाई।**
मेरिओ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ॥
दीन, सब अंगहीन, छीन, मलीन, अधी अघाई।
नाम लैं भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ॥
बूझहैं सौ है कौन, कहिबो नाम दसा जनाइ॥
सुनत राम कृपाल के मेरी बिगरिओ बनि जाइ॥
जानकी जगजननि जनकी किये वचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ गुन गन गाइ॥

सन्दर्भ एवं प्रसंग - प्रस्तुत पद गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित गया है। गोस्वामी तुलसीदास सीताजी की स्तुति करते हैं।

व्याख्या - हे माता। कभी अवसर देखकर, कोई दुख की मेरी भी याद दिला दीजिएगा। जब याद दिलाएं तो इस प्रकार का एक दास है जो बड़ा ही गरीब, सर्व साधनों से रहित, दुर्ब वाला (बड़ा ही पापी) है, और आपका नाम लेकर भीख मां कि वह कौन है? तब आप मेरी दुर्दशा का वर्णन करके कि कृपालु राम के कानों में मेरा नाम पड़ते ही - उन से मेरी सब बिगड़ी बात बन जाएगी। हे जगतज ही इस दास की सहायता कर दी - केवल दो दी, तो यह तुलसीदास आपके स्वामी का हो जाएगा।

अलंकार (1) अनुप्रास पंक्ति - सुनत - - - बनि जाइ। (3) प

विशेष - (1) यहाँ त है। (2) जानकीजी रघुनाथ परमात्मा के सामीप्य का से सीताजी से प्रार्थना वह प्रभु के ही नहीं - वह भी पूरी त खोल सकें।

45. **पुर तैं निकसीं रघुवीर वधू,**
धरि-धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की,
पुट सूखि गए मधुराधर वै,
फिर बूझति है, चलनो अब केतिक,
पर्णकुटी करिहौ कित ह्वै?
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अंखियां अति चारू चलीं जल च्वैं।

संदर्भ- प्रस्तुत कविता रामभक्त कवि तुलसीदास द्वारा रचित है। इसे उनकी काव्य रचना 'कवितावली' से लिया गया है। वनगमन के समय सीता की दशा का वर्णन।

व्याख्या- सीताजी को राम ने वन के कष्ट बताए, पर कृतनिश्चया सीताजी राम के साथ जाती हैं। वन के कष्टों का उन्होंने कभी अनुभव नहीं किया था। वे अयोध्या से बड़े धैर्य के साथ बाहर निकली ही थीं कि (थोड़ी दूर चलने पर ही) उनके ललाट पर पसीने की बूंदें झलक आईं, प्यास के कारण मधुर ओष्ठ सूख गए। थोड़ी ही दूर चली थीं कि वे रामचंद्रजी से पूछने लगीं कि अब कितनी दूर और चलना है, पर्णकुटी कहां बनाएंगे? सीताजी की आतुरता तथा थकान को श्रीराम समझ गए। उनके नेत्रों में आंसू छलक आए।

46. **धूत कहो अवधूत कहौ, सुन गोद के भूपति लै निकसे।**
अवलोकि हौं सोच-विमोचन को, ठगिसी रही, जे न ठगे धिकसे॥
तुलसी मन रंजन, रजित अंजन, नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि में समसील उभे, नवनील सरोरुह से निकसे॥

संदर्भ एवं प्रसंग- प्रस्तुत पंक्तियाँ रामभक्त कवि तुलसीदास द्वारा रचित "कवितावली" ली गई हैं। श्रीराम के बाल-सौन्दर्य का वर्णन है।

व्याख्या- हे सखि! मैं प्रातःकाल महाराज दशरथ के द्वार पर गई थी। उसी समय राजा दशरथ अपने पुत्र राम को गोद में लेकर बाहर निकले। उस बालक की चिन्ता को दूर करने वाली आकृति को देखकर मैं आश्चर्यचकित सी रह गई। जो व्यक्ति उनके मनमोहक रूप को देखकर आकर्षित नहीं होते उन्हें धिक्कार है। सखी आगे कहती है कि श्रीराम के नेत्र मन को प्रसन्न करने वाले हैं, काजल से मुक्त हैं एवं सुन्दर खंजन पक्षी के बच्चे के समान प्रतीत हो रहे हैं। श्रीराम के मुखमण्डल में उनके नेत्र इस तरह सुशोभित हो रहे हैं मानो चन्द्रमण्डल में समान रूप वाले दो नील कमल विकसित हो रहे हैं।

विशेष- (1) *वात्सल्य रस है।*

(2) *बजभाषा का प्रयोग द्रष्टव्य है।*

47. **बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रत धारी महा बिनु नारी दुखारे।**
गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वैं ह्वैं सिला सब चंद्रमुखी परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

संदर्भ एवं प्रसंग- संत तुलसीदास द्वारा रचित यह छन्द 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से लिया गया है। यहाँ तुलसीदास ने भगवान् रामचन्द्र के चरणों की धूलि के महात्म्य की अवतारणा हास्य रस में की है।

व्याख्या- विन्ध्य क्षेत्र के निवासी साधु तथा मुनिजन संसार से उदासीन हो चुके थे। अर्थात् वे पूर्णरूप से विरक्त हो चुके थे। वे तपस्वी तथा स्वयं व्रती थे एवं वे नारियों के अभाव में दु:खित थे। उन्होंने मुनि गौतम की पत्नी अहिल्या का उद्धार कर दिया है-वैसे ही वे परम सुख की अनुभूति करने लगे। श्रीराम के वन में पधारने पर उनसे मुनिजनों ने निवेदन किया कि हे प्रभो ! आपके चरणों की धूलि की महिमा अमित है। जिस तरह आपके चरणों की धूलि के स्पर्श से मुनि पत्नी अहिल्या तर गई उसी तरह वन में ये समस्त शिलाएं आपके चरणों की धूलि के स्पर्श से चन्द्रमुखी नारियों के रूप में हो जावेंगी-यह तो हम सभी के लिए अधिक सुखकारी होगा। आपने वन में पधार कर अच्छा कार्य किया और हम सभी को अनुग्रहीत किया।

विशेष- (1) *तुलसीदास ने विन्ध्यवासी साधु-व्रतीजनों के विषय में हास्यपरक वर्णन किया है।*

(2) *विन्ध्यवासी साधुजनों के विषय में हास्य का पुट देकर यह अभिव्यक्त किया है कि वे नारियों के अभाव में दु:खानुभव कर रहे थे।*

48. **कीर के कागर ज्यों नृपचीर विभूषन, उप्पम अंगनि पाई।**
औध तजी मगवास को रूख ज्यों पंथ के साथ ज्यों लोग लुगाई॥
संग सुबन्धु पुनीत प्रिया, मनो धर्म-क्रिया छरि देह सुहाई।
राजिव लोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई॥

संदर्भ एवं प्रसंग- प्रस्तुत छन्द संत तुलसीदास द्वारा रचित 'कवितावली' के 'अयोध्याकाण्ड' से उद्धृत है। यहाँ तुलसीदास ने भगवान राम के वनगमन का सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। श्रीराम ने अपने पिता राजा दशरथ के राज्य को इस तरह त्याग दिया जिस तरह एक तोता अपने पंखों को त्याग देता है। वे अपनी प्रिया सीता तथा श्रेष्ठ भाई लक्ष्मण के साथ परम हर्षित होकर राजसी वस्त्रों एवं सर्वस्व त्याग कर वन को चल दिये।

व्याख्या- वनगमन-विषयक समाचार को सुनकर मन में परमानन्दित होकर और अपने पिता की आज्ञा को स्वीकार कर अपने राजसी वस्त्रों तथा आभूषणों को श्रीराम ने उसी तरह त्याग दिया जिस तरह एक तोता अपने पंखों का त्याग कर देता है। तोता अपने पुराने पंखों को त्याग कर नये पंख ग्रहण करता है इसी तरह श्रीराम राजोचित वस्त्रों-आभूषणों को त्याग आंगिक शोभा से युक्त दृष्टिगोचर हो रहे थे। कहने का आशय यह है कि उनकी स्वाभाविक सुन्दरता नयनाभिराम थी। भगवान राम ने अयोध्या नगरी को इसी तरह त्याग दिया जिस तरह कोई पथिक मार्ग-निवास के वृक्षों का आश्रय प्राप्त कर तदनन्तर त्याग कर आगे चल देता है। पथिक को मार्ग के आश्रय प्राप्त वृक्षों से किसी तरह का लगाव नहीं होता है। उसके मन में तो अपने लक्ष्य की तरफ अग्रसर होने तथा प्राप्त करने की लगन होती है। जिस तरह पथिक को मार्ग में मिले हुए स्त्री-पुरुषों से किसी भी प्रकार का मोह नहीं होता, उसी तरह श्रीराम के साथ के साथ उनके श्रेष्ठ भाई लक्ष्मण तथा पवित्र आचरणशील स्त्री सीता ऐसे सुशोभित प्रतीत हो रहे थे मानो धर्म एवं क्रिया ने मनोहर शरीर धारण कर लिया हो। कमल नेत्र श्रीरामचन्द्र अपने पिता दशरथ के अयोध्या-राज्य को त्यागकर वन को इस तरह चल दिये जिस तरह पथिक मार्ग की समस्त आकर्षक वस्तुओं के प्रति मोह न कर लक्ष्य की तरफ अग्रसर हो जाता है। भाव यह है कि श्रीराम के हृदय में अयोध्या के राजपाट तथा श्रीसम्पन्नता के प्रति किसी प्रकार का आकर्षण नहीं होता था।

विशेष- *श्रीराम की [illegible] उक्ति द्रष्टव्य है।*

(2) *श्रीराम की चरित्र सम्बन्धी विशेषताओं का उद्‌घाटन हुआ है।*

(3) **गुण-** *माधुर्य।* **रस-** *शान्त।*

(4) **अलंकार-** *उपमा, उत्प्रेक्षा एवं अनुप्रास।*

49. **सुनत हनुमान की हाँस बांकी**
चंडकर थकित फिरि तुरग हांके।
कौन की तेज बलसीम भट भीम से,
भीमता बिरखि कर नयन ढाँके॥
दास तुलसीदास के निरुद्ध बसत विदूष,
बीर विरुदैत वर बैरि धाके।
नाक नरलोक पाताल कोउ कहत किन,
कहाँ हनुमान से वीर बांके॥

संदर्भ एवं प्रसंग- संत तुलसीदास द्वारा रचित यह छन्द 'कवितावली' से लिया गया है। प्राचीन अन्तर्कथाओं का संकेत करते हुए कवि ने हनुमान जी के तेज बल एवं यश का वर्णन किया है।

व्याख्या- तुलसीदास जी कहते हैं कि ऐसा कोई वीर संसार में नहीं है जैसे हनुमान जी हैं। वे कहते हैं कि ऐसा कौन वीर है जिसकी गर्जना से शिवजी तथा ब्रह्मा जी चकित हो जाते हैं। सूर्य के घोड़े जिसकी गर्जना को सुनकर रुक जाते हैं और इसलिए सूर्य को फिर से हाँकने पड़ते हैं। ऐसा कौनसा वीर है जिसके तेज एवं शक्ति को देखकर असीम बल वाले भीष्म भी अपने नेत्र बन्द कर लेते हैं।

तुलसीदास जी कहते हैं कि तुलसीदास वे स्वामी भगवान श्रीरामचन्द्र जी के सेवक श्री हनुमान जी के यश की विद्वान प्रशंसा करते हैं कि हनुमान जी के यश का बड़े-बड़े योद्धाओं के ऊपर आतंक छाया हुआ है। अन्त में तुलसीदास जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वर्ग, पृथ्वी लोक तथा पाताल लोक में कोई भी हनुमान के समान अद्‌भुत बलवान नहीं है।

काव्य-सौन्दर्य-

(1) *प्रस्तुत पद में हनुमान जी के यश एवं तेज का वर्णन किया है कि कवि ने हनुमान जी को अद्‌भुत वीर घोषित करते हुए कहा है कि तीनों लोकों में हनुमान जैसा वीर नहीं है।*

(2) *'वीर बिरुदैत बर बैरि धांके' में अनुप्रास अलंकार की सुन्दर छटा दर्शनीय है।*

50. **मोपै तौ न कछू हवै आई।**
ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यौ लखन सो भाई॥
पुर पितु मातु सकल सुख परिहरि जेहि बन-बिपति बँटाई।
ता संग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यौं न प्रान पठाई॥
जानत हौं या उर कठोर तें कुलिस कठिनता पाई।
सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुत को दरकि दरार न जाई॥
तात-मरन, हिय-हरन, गीध-बध, भुज दाहिनी गँवाई।
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहिं कलंक लगाई॥

प्रसंग- प्रस्तुत पद्यांश तुलसीदास रचित गीतावली से अवतरित है। यह लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर राम के विलास का वर्णन है।

व्याख्या- हाय ! मुझसे तो कुछ भी नहीं बना एवं आज तो लक्ष्मण-जैसा भाई भ्रातृत्व का अन्त तक अच्छी तरह निर्वाह करके चले गये। जिस भाई ने नगर, पिता, माता और सब प्रकार के सुख को त्यागकर मेरे साथ वन में पड़ने वाली विपत्ति में हिस्सा लिया था उसके साथ मैं अपने प्राण त्याग सुरलोक नहीं भेज सका। ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे इस कठोर हृदय से वज्र को कठोरता प्राप्त हुई है क्योंकि लक्ष्मण के स्नेह का स्मरण करके इसमें फटकार कोई दरार नहीं पड़ी। मेरे कारण ही पिता जी की मृत्यु हुई, स्त्री का अपहरण हुआ, गीध के प्राण सूख गये एवं अब मुझे दाहिनी भुजा भी गँवानी पड़ी। इस तरह मैंने हर प्रकार से अपने कुल को कलंकित ही किया है।

अलंकार- व्यतिरेक, उपमा।

51. **पंकज करनि चाप तीर तरकस कटि**
सीय स्वयंबरु माई, दोउ भाई आए देखन।
सुनत चलीं प्रमदा प्रमुदित मन।
प्रेम पुलकि तन मनहुँ मदन मंजुल पेखन।
निरखि मनोहरताई सुख पाई कहैं एक एक सौं,
भूरि भाग हम धन्य आली ! ए दिन, ए खन।
तुलसी सहज सनेह सुरंग सब।
सो-समाज चित्त-चित्रसार लागी लेखन॥

प्रसंग- प्रस्तुत अंश में सखियाँ सीता स्वयंवर में आये राम-लक्ष्मण की सुन्दरता का वर्णन करती हैं।

व्याख्या- हे सखी ! देखो दोनों भाई सीता स्वयंवर देखने आए हैं-यह सुनते ही सब स्त्रियाँ शरीर से पुलकित होकर ऐसी जा रही हैं मानो मनोहर कामदेव को ही देखने हेतु प्रसन्न चित्त से जा रही हों। राम और लक्ष्मण की सुन्दरता देखकर अपने चित्त में सुख का अनुभव करती हुई एक-दूसरे से कहती हैं कि हे सखी ! हम लोग इस क्षण निश्चय ही बड़ी भाग्यशालिनी एवं धन्य हैं जो इनका दर्शन हुआ।

विशेष- उत्प्रेक्षा, उपमा अलंकार दृष्टव्य है।

52. **सरित जल मलिन सरनि सूखे नलिन।**
तृषित जानि जल लेन लखन गए, भुज उठाइ ऊंचे चढ़ि टेरत।
अवनि कुरंग, विहंग द्रुम डारन रूप निहारन पलक ने प्रेरित।
मगन, न डरत निरखि कर कमलनि सुभग सरासन सायक फेरत॥

प्रसंग- सीताजी की दशा का वर्णन है।

व्याख्या- नदी का जल मलिन हो गया है, कमल सूख गए हैं। राम मुड़-मुड़कर सीताजी की तरफ देखते हैं। उन्हें प्यासी समझकर लक्ष्मण जी जल लेने गए हैं और राम टीले पर खड़े होकर हाथों को उठाकर उन्हें बुलाकर बुला रहे हैं। पृथ्वी पर मृग तथा वृक्षों की डालियों पर पक्षी उनके रूप को अपलक देख रहे हैं।

विशेष- (1) **अलंकार-** *उत्प्रेक्षा, रूपक।*

(2) *सीता की प्यासी दशा का वर्णन।*

53. **तात ! बिचारो धौं हौं क्यौं आवौं।**
तुम्ह सुचि सुहृद सुजान सकल बिधि, बहुत कहा कहि कहि समुझावौं॥
निज कर खाल खैंचि या तनु तें जौ पितु-पग-पानहीं करावौं।
होउँ न उरिन पिता दसरथ तें, कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं॥
तुलसिदास जाको सुजस तिहूँ पुर क्यों तेहि कुलहिं कालिमा लावौं॥
प्रभु रुख निरखि निरास भरत भए, जान्यो है सबहि भाँति बिधि बावौं?

प्रसंग- प्रस्तुत अंश में भगवान राम भरत से कहते हैं कि अयोध्या वापस लौटकर अपने कुल पर कालिख नहीं पोत सकता हूँ।

व्याख्या- भैया ! सोचो तो कि मैं अयोध्या कैसे लौट संकता हूँ। तुम पवित्र हृदय वाले एवं हर प्रकार सुहृद तथा समझदार हो इसलिए तुम्हें क्या समझाना। यदि मैं अपने हाथ से ही इस शरीर की खाल खींचकर पिता जी के चरणों की जूतियाँ बनवाऊँ तो भी मैं पिता दशरथ से ऋणमुक्त नहीं हो सकता, फिर उनके वाक्यों का तिरस्कार करके अगर मैं घर लौट चलूँ तो मुझे कहाँ शरण मिलेगी-कौन विश्वास करेगा। (तुलसीदास कहते है) जिस कुल का यश त्रैलोक्य में व्याप्त है उसको मिटाकर मैं उस कुल पर कैसे कालिख पोत सकता हूँ। प्रभु का इस तरह का भाव समझकर भरत जी निराश हो गये और उन्होंने विधाता को हर तरह अपने प्रतिकूल समझ लिया है।

विशेष- पितृ-प्रेम का वर्णन है। अनुप्रास अलंकार है।

54. **मेरे जान तात कछू दिन जीजै।**
देखिय आपु सुवन-सेवासुख मोहिं पितु को सुख दीजै॥
दिव्य-देह इच्छा-जीवन जग बिधि मनाई माँगि लीजै।
हरि-हर-सुजस सुनाइ, दरस दै लोग कृतारथ कीजै॥
देखि बदन, सुनि बचन अमिय, तन रामनयन जल भीजै।
बोल्यो बिहग बिहँसि 'रघुबर बलि कहौं सुभाय पतीजै।'
मेरे मरिबे सम न चारि फल होहिं तौ क्यों न कहीजै?।
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौन ही परी मानो प्रेम सहीजै॥

प्रसंग- प्रस्तुत अंश में कवि ने पक्षिराज एवं रामचन्द्र जी के वार्तालाप का बखान किया है।

व्याख्या- रामचन्द्र ने कहा कि हे तात ! आप कुछ दिन और जीवित रहें। आप मुझे पिता की सेवा का सुख दीजिए तथा आप पुत्र सेवा का सुख प्राप्त करें। अब विधाता आप पर प्रसन्न हैं अत: आप स्वर्गिक शरीर एवं इच्छा जीवन माँग लीजिए और भगवान् विष्णु एवं शंकर सुयश लोगों को सुनाकर लोगों को दर्शन देकर कृतार्थ कीजिए। तब रामचन्द्र जी का मुख देखकर, उनके अमृतमय वचन सुनकर और शरीर को राम के आँसुओं से भीगा जानकर पक्षिराज हँसकर बोले, हे रघुनन्दन ! मैं आपकी बलिहारी जाता हूँ। आप विश्वास कीजिए मैं स्वभाव से ही सहज रूप से कहता हूँ। मेरे मरने के समान तो चारों फल भी नहीं हैं अगर हों तो बतलाइए। तुलसीदास कहते हैं कि प्रभु ने मौन रूप में मानो गिद्धराज के प्रेम को सही करते हुए उत्तर दिया।

अलंकार- उत्प्रेक्षा (अन्त में)।

विशेष- राम की प्रतिष्ठा तथा प्रेम की तीव्रानुभूति।

इकाई-दो

भक्तिकाल का आविर्भाव निम्न परिस्थितियों में हुआ :-

राजनैतिक परिस्थितियां - वीर गाथा काल के समाप्त होते ही साहित्यिक क्षेत्र में क्रान्ति की लहर दौड़ती दिखाई दी। भारत में मुसलमानों का शासन स्थापित हो चुका था। उनका आतंक चारों और छाता चला गया। अनेक हिन्दू राजाओं ने मुसलमान शासकों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। फलत: हिन्दुओं के हृदय से गौरव, गर्व और उत्साह समाप्त होता चला गया। हिन्दुओं के देव मन्दिरों को मुसलमानों ने भूमिसात् करना प्रारम्भ कर दिया। देवताओं की मूर्तियों को तोड़ दिया। आराध्य व पूज्य पुरुषों को अपमानित करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में भी हिन्दू जाति से प्रतिवाद या प्रतिशोध की कोई लहर नहीं उठी। मुस्लिम साम्राज्यवाद का विस्तार होता चला गया और मुसलमानों का भय जनजीवन में व्याप्त होता गया। परिणामस्वरूप वैदिक धर्म अन्तिम सांसें गिनता हुआ जर्जरित होता गया। हिन्दुओं में इतनी शक्ति भी शेष न रह गई थी कि वे अपनी व अपने धर्म की रक्षा कर सकते। नतीजा यह निकला कि वे मुस्लिम शासकों के अधीन रह कर उन्हीं की तरह विलास - प्रिय होते चले गये। वीरगाथा कालीन भावना निष्शेष हो गई। देशी भाषा के कवियों का राजाश्रय समाप्त हो गया था, जिससे काव्य राजदरबार की मीनारों से गिरकर साधुओं व विरक्तों की झोपड़ियों में सांस लेने लगा। अब तक जिस कविता में आश्रयदाताओं की प्रशंसा व स्तुति होती थी, वही अब निराश और खिन्न होकर भगवद् भक्ति की ओर मुड़ गई। यह मोड़ अचानक नहीं आया था, जैसा कि ग्रियर्सन ने स्वीकार किया है।

धार्मिक परिस्थितियां - धार्मिक परिस्थितियां भी शोचनीय हो गईं। राजनैतिक हलचल ने हिन्दुओं के धार्मिक जीवन को भी प्रभावित किया। ब्रजयानी सिद्धान्तों, नाथपंथी, योगियों व कापालियों आदि ने देश से धर्म का स्वरूप मिटा दिया था, जिससे जनता आत्म-कल्याण को तो भूल ही गई, लोक-कल्याण भी भूल बैठी। हां कुछ शास्त्रज्ञ विद्वान इससे अप्रभावित ही रहे तथा निरन्तर सुधार लाने का प्रयत्न करते रहे। निराश जनता ने भक्तों के उद्धारक भगवान से अपनी रक्षा के लिए गुहार लगाना प्रारम्भ कर दिया। मुसलमान शासक कभी शक्ति से और कभी प्रेम से हिंदुओं में मुस्लिम धर्म का प्रचार करना चाहते थे। शासकों की रीति-नीति अज्ञात रूप से शासित एवं शोषित हिन्दुओं को प्रभावित करने लगी। वे प्यार और मार से पददलित समझी जाने वाली जाति पर मुसलमानत्व थोपने लगे। आत्म - .रक्षा के विचार से हिन्दुओं ने मुस्लिम धर्म को समझने का निष्फल प्रयास किया। वे (हिन्दू) निराश और पराजित तो थे ही, अपनी कमजोरी, खिन्न व विषण्ण भावना को छुपाने के लिए अध्यात्म भक्ति की ओर झुकते चले गये। भगवद् भक्ति के अलावा कोई अन्य मार्ग उनके सामने नहीं रह गया था। कुछ मुसलमान कवियों ने भी हिन्दू धर्म को समझने की चेष्टा की, जिससे साहित्य और जीवन में एक नये मोड़ की शुरुआत हुई। यद्यपि यह ठीक है कि एक सीमा तक निराश हिन्दू भगवत् भक्ति की ओर उन्मुख हुए, किन्तु यह पूर्णत: सत्य नहीं है। कारण यह है कि जिस समय उत्तर भारत धार्मिक अत्याचारों का केन्द्र बना हुआ था, तभी दक्षिण में भक्ति की स्रोतास्विनी प्रवाहित हो रही थी, वहां के भक्त ईश्वर से प्राणरक्षा, जीवन रक्षा और उद्धार के लिए प्रार्थना कर रहे थे। अत: मात्र हिन्दुओं के जीवन में व्याप्त निराशा ने ही भक्ति भावना को विकसित नहीं किया है। अत: भक्ति कालीन भक्ति भावना को न तो ईसाइयत की देन ही स्वीकार किया जा सकता है

और न धार्मिक अत्याचारों ने भक्ति भावना को अधिक व्यापक रूप से विकसित करने में सहायता पहुंचाई। वस्तुत: भक्ति के इस विकास में कोई एक परिस्थिति प्रमुख नहीं रही है, अनेक परिस्थितियों की प्रेरणा रही है।

सामाजिक परिस्थितियां - राजनैतिक जीवन की उथल-पुथल, धार्मिक अत्याचारों और विषमताओ का प्रभाव तत्कालीन सामाजिक जीवन पर पड़ना स्वाभाविक ही था। अत: ऐसी अनिश्चित अवस्था में सामाजिक जीवन भी विश्रृंखलित होता गया। राजा और सामन्त वर्ग विलासिता में डूबता जा रहा था। प्रजा आर्थिक कष्ट से भाराक्रान्त होकर निर्धनता व निराशा का वरण करती जा रही थी। आर्थिक विपन्नता ने जनजीवन के स्तर को गिरा दिया था। एक ओर तो यह स्थिति थी, दूसरी ओर हिन्दू-मुसलमानों का पारस्परिक संघर्ष एक-दूसरे के प्रति घृणा में परिवर्तित होता जा रहा था। वर्णाश्रम व्यवस्था शिथिल होकर मृतप्राय: होती गई। जाति पांति के भेद बढ़ते गये तथा बहु विवाह की प्रथा बढ़ी। बाल विवाहों का प्रचलन हुआ। सामाजिक संकीर्णता के इस वातावरण् में जो धार्मिकता गौण होती चली जा रही थी, उसे कतिपय प्रतिभाओं ने शुद्ध आध्यात्मिकता की ओर मोड़ दिया। संतों व सूफियों ने यही काम किया है।

भक्तिकाल की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि- भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जाता है. इस युग में भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित काव्य-रचनाएं हुई। राजपूतों की पराजय ने हिन्दी-काव्य को नवीन दिशा प्रदान की। मुसलमानों से पराजित होकर हिन्दू जन-जीवन में निराशा छा गई। हिन्दुओं के सामने उनके मंदिर गिराये जाते थे और उनके देवी-देवताओं का अपमान होता था, परन्तु शक्ति के अभाव में वे सभी कुछ सहन करते रहते थे। उनमें प्रतिकार लेने की शक्ति नहीं रह गई थी। आश्रयदाता राजा और उनका शौर्य ही जब समाप्त हो गया था, तब वीर गाथाओं को कौन लिखता व कौन सुनता? अत: वीर-काव्यधारा भक्ति-काव्यधारा में शान्ति और विश्राम पाने हेतु विलीन हो गई।

भक्ति-काव्य के उदय में राजनीतिक परिस्थितियों का बहुत कुछ योग रहा। परन्तु इस कथन में आंशिक सत्यता ही है कि मुसलमानों से पराजित होकर हिन्दू-समाज भक्ति की ओर उन्मुख हुआ। दक्षिण के शान्त वातावरण में जहां मुसलमानों का प्रभाव तक नहीं था, भक्ति का प्रचार हो रहा था। आलवार सन्त भक्ति की धारा प्रवाहित कर रहे थे। रामानुजाचार्य और विष्णु स्वामी ने विष्णु के साकार रूप की प्रतिस्थापना की। यह दक्षिण की भक्ति-धारा इतने वेग से प्रवाहित हुई की उत्तरापथ में जान्हवी बनकर जन-जीवन को प्लावित करने लगी। बहुत पहले से देश के पूर्वी तथा पश्चिमी प्रदेशों में सिद्ध और नाथपंथी क्रमश: प्रचार-कार्य कर रहे थे। ये धर्म, कर्म, ज्ञान और उपासना के समन्वित रूप को न समझा सके परन्तु जन-साधारण के भीतर इनका बहुत प्रभाव था। कबीर आदि सन्तों तथा जायसी आदि सूफी कवियों पर इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अत: यह कहना ठीक नहीं है कि भक्तिकाल का आरम्भ एक अचानक घटना के रूप में हुआ, जो मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं के पराजित होने से घटित हुई थी। इसके लिए तो बहुत पहले से मेघ-खंड एकत्र हो गये थे, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मुसलमानों के विजय-गर्व युक्त अत्याचारों ने भक्ति-प्रवाह को तीव्रता अवश्य प्रदान की। भक्ति-काव्य की यह धारा इतने वेग से प्रवाहित हुई कि सहदय मुसहमान भी इससे न बच सके। भक्ति-काव्यधारा के विकास का मुख्य आधार भारत का धामिक और भक्ति-आन्दोलन है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भक्ति का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है।

आगे चलकर रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द जी हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना का प्रचार किया। दूसरी ओर श्री वल्लभाचार्य ने प्रेम-मूर्ति श्रीकृष्ण को सामने लाकर जनता को रसमग्न कर दिया। इस प्रकार राम-भक्ति और कृष्ण भक्ति धारा का विकास

हुआ। आगे चलकर कृष्ण-भक्ति शाखा में सूरदास और राम-भक्ति शाखा में तुलसीदास प्रमुख कवि हुए।

इस प्रकार भारत में सगुणोपासना का क्षेत्र तैयार हो चुका था, किन्तु देश में मुसलमान स्थायी रूप से बस चुके थे। वे साकारोपासना के विरेधी थे। अत: ऐसे सामान्य भक्ति-मार्ग की आवश्यकता हुई, जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों ही योग दे सकें। मुसलमानों का विश्वास एकेश्वरवाद में था। वे मूलत: निर्गुणोपासक थे। हिन्दुओं में भी निराकारोपासना की मान्यता थी। वेदों तथा उपनिषदों से लेकर निर्गुण-निराकार की उपासना हिन्दुओं में चली आ रही थी। अत: इस सामान्य उपासना-पद्धि को लेकर सन्त और सूफी कवियों ने निर्गुणोपासना का प्रचार किया। कबीर आदि ज्ञानमार्गी सन्तों ने मुस्लिम एकेश्वरवाद और भारतीय अद्वैतवाद को आधार बनाया, जबकि जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों ने सूफी प्रेमवाद और भारतीय अद्वैतवाद का समन्य अपनी साधना-पद्धति में किया। इस प्रकार भक्तिकाल में साकारोपासना और निर्गुणोपासना की दो धाराएं सानान्तर रूप से प्रवाहित होती रहीं।

निष्कर्ष

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि भक्तिकाल के प्रादुर्भाव के मूल में जहां एक ओर सांस्कृतिक और धार्मिक भावना कार्यशील रही है, वहीं समय का सहयोग पाकर यह विकसित व पल्लवित होती गई। इस भावना के मूल में न तो राजनैतिक परस्थितियां ही हैं और न कोई विदेशी प्रभाव ही है। हां उन दोनों ने दक्षिण भारत से विकसित भक्ति भावना को पल्लवित होने में सहयोग अवश्य दिया है। सगुण भक्ति तो उत्तर में पहले से प्रचलित थी ही, उसके दो रूप भक्ति काल में हो गये - कृष्ण भक्ति व राम भक्ति। साथ ही बौद्धों के ध्वंसावशेष सिद्धों व नाथों से प्रेरित होकर निर्गुण काव्यधारा का विकास हुआ, जिसने ज्ञानमार्गी व प्रेममार्गी दो धाराओं में अपना विकास किया। अत: यही कहा जा सकता है कि भक्ति काल का प्रादुर्भाव तात्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक परिस्थितियों की प्रेरणा से हुआ। दक्षिण भारत में पनपी भक्ति भावना को तत्कालीन परिस्थितियों ने प्रकट किया और एक पवित्रता के साथ भारतीय जीवन में भक्ति भावना आविर्भूत हुई।

प्रत्येक काल का साहित्य कुछ विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं को लेकर लिखा जाता है। दूसरे प्रत्येक काल की अपनी मान्य विशेषताएं ही उस काल के साहित्य को दूसरे काल से पृथक करती हैं । इस दृष्टि से विचार करने पर भक्तिकाल का साहित्य निश्चित ही अपने पूर्ववर्ती साहित्य से पृथक एवं विशिष्ट है। तथ्य तो यह है कि जितनी सफलता से भक्तिकाल के साहित्य ने जनजीवन को प्रभावित एवं आँदोलित किया, अन्य किसी भी काल का साहित्य न कर सका। इसकी यह विशेषता सर्वाधिक महान और ग्राह्य है। वास्तव में भक्ति साहित्य ने भारतीय जन-मानस को जीवन का एक नया आलोक प्रदान किया, इसने आशा आकांक्षा से भरा जीवन जीने की कला सिखाई। मन, बुद्धि और आत्मा को समान रूप से रसान्वित कर एक विशेष सन्तुष्टि प्रदान की। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि यह समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। डा. श्याम सुन्दर दास ने तो भक्ति साहित्य रचे जाने के काल को स्वर्ण युग नाम से सम्बन्धित करते हुए लिखा है कि जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे सुप्रसिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्त:करणों से निकल कर देश के कोने-कोने में फैली थी, निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था।

हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का पूर्ण मध्य युग भक्तिकाल नाम से अभिहित किया जाता है। भक्तिकाल शब्द ही अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने वाला है, अर्थात् इस काल में भक्तिपरक रचनाओं की प्रधानता रही है। कुछ विद्वानों ने इस काल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा है। उनकी दृष्टि में हिन्दी काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल में उपलब्ध होता है। वस्तुत: निर्गुण और सगुण धाराओं में प्रवाहित होने वाला यह काव्य गुणवत्ता और परिणाम दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। काव्य विधाओं के आधार पर भी इस काल के लिए स्वर्णयुग शब्द का प्रयोग किया गया था। तब उन विद्वानों के समक्ष वर्तमान युग का प्रचुर साहित्य नहीं था, अर्थात् यह शब्द आज से लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व प्रयोग में आया था और तब तत्कालीन समस्याओं में भक्ति काल से श्रेष्ठ काव्य की कल्पना करना सम्भव नहीं था। इसे स्वर्ण युग प्रमाणित करने वाले तत्व ये हैं -

(1) **निर्गुण सन्त काव्य : स्वर्ण युग के रूप में -** भक्तिकाल का प्रारम्भ निर्गुण सन्त काव्य से होता है। इस धारा के कवियों में उन सन्त कवियों का स्थान है, जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण निराकार ईश्वर की भक्ति का संदेश दिया। भक्ति के क्षेत्र में संत कवि भारतीय निर्गुण भावना के समीप होते हुए अद्वैतदर्शन के प्रतिपादक थे, किन्तु दर्शन की मात्र पीठिका ही उन्हें स्वीकार्य थी, दार्शनिक मतवाद या भेदभाव के प्रपंच से उनका साक्षात कोई सम्बन्ध नहीं था। सामाजिक स्तर पर इन सन्तों ने पाखण्ड एवं अंधविश्वासों का पूरी दृढ़ता के साथ खंडन किया। मिथ्या आडंबरों के प्रति जैसी अनास्था इन सन्त कवियों ने व्यक्त की, वैसी न तो पहले कभी कोई समाज सुधारक कर सका था और न परिवर्तन युग में ही किसी का वैसा साहस हो सका। इन संत कवियों का एक बड़ा भाग निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखता था, किन्तु आचरण की पवित्रता और आचरित सत्य की निष्ठा के कारण इनकी वाणी का प्रभाव समाज के उच्च वर्ग पर भी पड़ा था। निर्गुण सन्तों के द्वारा तत्कालीन समाज में एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का उदय हुआ और परम्परागत रूढ़िवादिता पर इन्होंने गहरा प्रहार किया। विद्वान दार्शनिक पण्डितों का प्रभाव एक सीमित शिक्षित वर्ग तक था, किन्तु इन कवियों की वाणी का प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ा और सभी वर्गों के व्यक्ति इनसे प्रभावित हुए। सन्त कवियों के पास धर्म, दर्शन, शक्ति और चरित्र निर्माण के लिए अपना निजी संदेश था। धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता के ये घोर विरोधी थे, दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत-दृष्टि से एकेश्वरवाद के समर्थक थे। भक्ति के क्षेत्र में ये कर्मकाण्ड रहित निष्ठा और समर्पण में विश्वास रखते थे और चरित्र विकास के लिए आचरित सत्य को जीवन निर्माण की कसौटी मानते थे।

(2) **समन्वय दृष्टि -** विजयेन्द्र स्नातक का मत है कि 'सन्तों में समन्वय दृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, नानक, दादू, हरिदास, निरन्जनी आदि सन्तों ने जिस रूप से विचार व्यक्त किये हैं, उसका आधार कोई एक विचारधारा या मतवाद नहीं है। अद्वैतवाद, वैष्णवों की भक्ति भावना, सिद्धों नाथों की सहज सरल साधना आदि का जिस पद्धति से इन्होंने समन्वय किया था, वह सर्वजन्य सुलभ थी, फलत: सामाजिक स्तर पर इनका समन्वय ग्राह्य बन गया था। संतों ने शास्त्र वचन को प्रमाण नहीं माना। शास्त्र की अवहेलना एक कठिन चुनौती थी, लेकिन अनुभूति को प्रमाण मानने से शास्त्र मर्यादा भी शिथिल हो गई। मानव को परम्परागत रूढ़ शास्त्र परम्परा से मुक्ति केवल इन निर्गुण संत कवियों की आत्मानुभवमयी दृढ़ वाणी से ही मिली थी। वस्तुत: ये कवि अपने युग के मिथ्याडम्बरों और धार्मिक रूढ़ियों के खोखलेपन से परिचित होकर ही सत्य के उद्घाटन का साहस कर सके थे। जिसे एक बार सत्य का बोध हो जाता है, वह किसी भी मिथ्या या अनुभूति तथ्य को प्रमाण नहीं मानता।'

(3) **अटूट आस्था व भक्ति -** इस युग के संत कवि ईश्वर की सत्ता और सर्व शक्तिमता में अटूट विश्वास रखने के कारण अत्यन्त निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी और सत्यवादी थे। किसी भी

धर्म की मिथ्या धारणाओं का खण्डन करते समय इनके मन में भय का संचार नहीं होता था। कबीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा था कि में चौराहे पर सिर पर कफन बांधकर खड़ा हूं, सत्य को प्रकट करते समय मुझे किसी का भय नहीं है, जिसमें सत्य को प्रकट करने का साहस हो, वह मेरे साथ आये। ऐसे क्रान्तिकारी विचारों का उद्घोष करना उस युग में सम्भव हो सका, यह आश्चर्य की बात नहीं है।

(4) **सहज भाषा** - यह ठीक है कि भक्त कवियों ने काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, जीवन के विद्यालय में सत्य और अनुभूत सत्य का पाठ ही ये पढ़ते रहे किन्तु कविता के माध्यम से इन्होंने जो कुछ लिखा, काव्यहीन भी नहीं है। जिस साधारण और सहज भाषा को इन्होंने अपनाया था, वह जन-भाषा थी और साधारण जनता के अधिक निकट होने के कारण लोकप्रिय भी थी। इस भाषा की लोकप्रियता का यही प्रमाण है कि इनकी रचनाएं जनता के दैनिक व्यवहार और बोलचाल में सूक्तियों के रूप में स्थान पा गई हैं। आज भी इन संतों की उक्तियों का प्रयोग हम व्यावहारिक भाषा में करते हैं।

(5) **गुरु वन्दना और महत्वांकन** - भक्तिपूरित हृदय वाले कवियों ने गुरु को विशेष आदर व महत्व दिया है। एक बात और ध्यातव्य है - इन संतों ने अपने युग में जिन धाराओं और मान्यताओं का खण्डन किया उन्हीं को इनके नाम पर परवर्ती युग में पंथ या मत के रूप में स्थान मिला। कबीर पंथ, नानक पंथ, मूलदासी, शिवनारायणी आदि पन्थों का उदय इस को प्रमाणित करता है कि सन्तों की साधना, उनके बाद पुन: पूजा का विषय बन गई। गुरु पूजा तो इन पंथों में अनिवार्य हो गई। नानक के नाम से सिक्ख मत का उदय हुआ, तो कबीर के नाम से कबीर पंथ चल पड़ा। वस्तुत: जनता की मनोवृत्ति अन्धानुकरण की होती है।

(6) **सामाजिक हित** - यदि निर्गुण सन्त काव्य परम्परा के भक्त कवियों की वाणी के मूल उद्देश्य पर विचार किया जाए तो, वह मानव समाज के सामूहिक कल्याण की वाणी है। दूसरे शब्दों में उसे धर्म निरपेक्ष सत्योन्मुखी वाणी कह सकते हैं। संतों ने तथाकथित जाति या वर्ण व्यवस्था को स्वीकार न कर मानवमात्र को एक धरातल पर खड़ा किया था। उनकी दृष्टि से मानवतावाद ही एक ऐसा स्तर था, जिस पर समाज की व्यवस्था संभव थी। जिस लक्ष्य को ये सन्त कवि प्राप्त करना चाहते थे, वह सार्वजनिक हित से समन्वित सर्व जन सुलभ ध्येय था। अत: अपने युग में इन्होंने एक व्यापक वैचारिक क्रान्ति को जन्म देकर भारतीय जनता के समक्ष एकेश्वरवाद, सदाचार, सत्य, क्षमता और शाश्वत धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया था। अवतारवाद, पूजा-सेवा, रोजा-नमाज, मन्दिर-मन्दिर, तीर्थ व्रत आदि को इन्होंने स्वीकार नहीं किया था।

(7) **प्रेमाख्यानक काव्य और भक्ति काव्य** --निर्गुण संत कवियों के साथ ही उस युग में एक दूसरी काव्यधारा भी प्रवाहित हो रही थी, जिसे हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में प्रेमाख्यानक काव्य के नाम से अभिहित किया जाता है। भक्तिकाल को स्वर्ण युग बनाने में प्रेमाख्यान काव्य की दो धाराएं प्राप्त होती हैं --- एक धारा के कवि आध्यात्मिक प्रेम अर्थात् ईश्वरीय प्रेम के आख्यानों कविता के माध्यम से अंकित करते हुए उसे किसी अन्य लोक की अथवा अध्यात्म की कथा नहीं बनाते। इस दूसरी धारा के कवियों को हिन्दी साहित्य में वह श्रेष्ठ स्थान नहीं प्राप्त हो सका, जो पहली धारा के कवियों को प्राप्त है।

(8) **सगुण भक्ति काव्य और स्वर्ण युग** - हिन्दी साहित्य का भक्ति काल निर्गुण सन्त कवियों के द्वारा जिस प्रकार स्वर्ण युग प्रतीत होता है, उसी प्रकार सगुण भक्ति कवियों के द्वारा भी इस काल को स्वर्ण युग की अभिधा दी जा सकती है। सगुण भक्ति के रूप में उस काल की राम और कृष्ण काव्य धाराएं विशेष प्रसिद्ध हैं। राम काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास और कृष्ण काव्यधारा के प्रमुख कवि सूरदास ने भक्ति काव्य को सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इन दोनों

कवियों के माध्यम से सगुण भक्ति काव्य विषय वस्तु, रसात्मकता, भावात्मकता, कलात्मकता और भक्ति भावना के रूप में स्वर्णिम रूप लेकर प्रस्तुत हुआ है। निर्गुण कवियों की भांति ही सगुण भक्ति कवियों ने हिन्दू जनता में ईश्वर के प्रति विश्वास पैदा किया, निराश हिन्दू जनता को नयी दिशा प्रदान की, भगवान के शक्तिशाली और सौन्दर्य से युक्त स्वरूप की झांकी प्रस्तुत की और लोक-मानव को मानवीय सम्बन्धों व पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति सजग बनाया। वैष्णव भक्त कवियों ने साम्प्रदायिक स्तर पर कृष्ण भक्ति का विविध रूपों में विकास किया और इस प्रकार भक्ति काल को स्वर्ण युग की संज्ञा दिलाने में उल्लेखनीय कार्य किया। काव्य शिल्प की दृष्टि से भी सगुण और निर्गुण दोनों ही श्रेणी के कवियों ने इस काल को भक्ति युग ही नहीं, अपितु स्वर्ण युग के निकट लाने का सार्थक प्रयास किया है।

निष्कर्ष

संक्षेप में कह सकते हैं कि भक्तिकाल का साहित्य अपनी अनेक विशेषताओं के कारण और कलात्मक और भावात्मक सौन्दर्य के कारण ही नहीं अपितु भाषा की सरसता और लोकहित की दृष्टि से स्वर्ण युग की अभिधा से मण्डित करने योग्य है। अत: कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्यकाल निश्चित ही स्वर्णयुग था, जिसमें भाषा, भाव, अलंकार के कौशल के साथ-साथ मानव जीवन के हित का स्रोत भी प्रवाहित हुआ है।

संत शब्द का अर्थ

सन्त-काव्य का तात्पर्य- सन्त शब्द का संबंध प्राय: शान्त सन्त तथा आंग्ल भाषा के सेन्ट **(Saint)** आदि विविध शब्दों से जोड़ा गया। व्युत्पत्ति की दृष्टि से वह संस्कृत की 'अस्' धातु के वर्तमान कृदन्त रूप 'सत्' के बहुवचन रूप 'सन्त:' से निर्मित है। "ऋग्वेद में 'सत्' का प्रयोग ब्रह्म के लिये (सम्भवत: उसकी नित्य सत्ता के बोध के लिये) हुआ एवं 'तैत्तरीय उपनिषद्' में 'ब्रह्मविद्' के लिए भी। बाद में इसका प्रयोग (ब्रह्मविद् के) अच्छे भाव और अच्छे कर्मों के लिये होने लगा और फिर तो सामान्य रूप से 'सत्' का अर्थ 'अच्छा', 'असत्' का 'बुरा हो गया।.....एकवचन 'सत्' के बदले जो उनका बहुवचन रूप 'सन्त' के लिए उपयुक्त हुआ, वह हिन्दी के लिए कोई असाधारण बात नहीं है।" जहाँ तक सम्बन्ध है, इस शब्द के अर्थ का तो वह समय-समय पर नाना अर्थ देता रहा है। एक अद्वितीय परमतत्व (ऋग्वेद एवं तैत्तरीय उपनिषद), सदाचारी (महाभारत), पवित्रात्मा, (भागवत), परोपकारी (भर्तृहरि) बुद्धिमान और सदासद्विवेकी (कालिदास), मायातीत महापुरुष (कबीर) आदि इसके कुछ ऐसे ही अर्थ हैं। यहाँ तक कि मध्यकाल में सन्त एवं भक्त परस्पर पर्याय थे यद्यपि "16 वीं-17 वीं शताब्दी में नीची जातियों में उत्पन्न होने वाले, ब्राह्मण, वेद तथा दशरथि राम के प्रति अनास्थाशील जिन 'भक्तों' को जनता सन्त कहती थी और गोस्वामी जी ने जिन्हें निरा गंवार, ज्ञानाभिमानी, मूढ़ और पाखण्डी कहकर स्वीकार किया, 19 वीं शताब्दी में 'सन्त' उनका विशेषण न रहकर संज्ञा बन गया। इसी से, पारिभाषिक-प्रचलित अर्थ में, "सन्त शब्द का प्रयोग किसी समय विशेष रूप से सिर्फ उन भक्तों के लिये ही होने लगा था जो बिट्ठल या वारकारी सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे एवं जिनकी साधना निर्गुण भक्ति के आधार पर चलती थी। x x x x सन्त शब्द इनके लिए प्राय: रूढ़-सा हो गया था तथा कदाचित् अनेक बातों में उन्हीं के समान होने के कारण उत्तरी भारत के कबीर साहब एवं अन्य ऐसे लोगों का भी वही नामकरण हो गया।" यूँ तो भारतीय परम्परा में सन्त कई प्रकार के माने बताये गये हैं एवं ऋषि सन्त, राजा सन्त, सुधारक और ज्ञानी सन्त, देवकोटि के सन्त, साधारण वर्णों के सन्त, नारी सन्त तथा पशु-पक्षी सन्तादि। फिर भी, मध्यकालीन हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में, यह शब्द ज्ञानाश्रयी अथवा ज्ञानमार्गी निर्गुण भक्त-कविसमुदाय का सूचक है। इसी से, "सन्त शब्द आजकल अपनी पूर्ववर्ती उदात्त अर्थ-मर्यादा से विच्छिन्न होकर ऐसे ज्ञानी भक्तों की पारिभाषिक (और साम्प्रदायिक) संज्ञा बन गया है, जो नीची जातियों में उत्पन्न हुए हैं,

ब्राह्मण, वेद तथा सगुण ब्रह्म में आस्था नहीं रखते, जाति-पाँति के बन्धनों को स्वीकार नहीं करते है एवं आदि सन्त, कबीर, कबीर के किसी अनुयायी या कबीर जैसी कथनी-करनी वाले भक्त को अपना गुरु मानते हैं तथा उनके मत, रीति-नीति, आचार-व्यवहार तथा साधना की सीधी परम्परा में पड़ते हैं।" इन्हीं की काव्य-रचनायें समग्रत: 'सन्त-काव्य' कही जाती हैं।

सन्त काव्य- पृष्ठभूमि और परम्परा :- भारत में ब्रह्म के निर्गुण रूप की उपासना तो प्राचीन काल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी, पर कालक्रम से सर्वप्रथम महाराष्ट्र के निर्गुण कवियों को 'सन्त' की संज्ञा दी गयी। विट्ठल या वारकरी सम्प्रदाय के साधक 'सन्त' ही कहलाते थे। सम्भवत: उन्हीं के अनुकरण पर, आगे चलकर कबीरादि को भी 'सन्त' और उनकी रचनाओं को 'सन्त काव्य' कहा जाने लगा जो कालान्तर में रूढ़ ही बन गया। यूँ, कबीर से पहले भी जयदेव, सधना, वेणी, नामदेव, त्रिलोचन, रामानन्द और सेना आदि सन्तों के उल्लेख मिलते हैं। कबीर के समकाल तथा परवर्तीकाल में तो इनकी पूरी श्रृंखला ही मिलती है। रैदास, पीपा, धन्ना, कमाल, धर्मदास, सिंगा जी, दादू, रज्जब, मलूकदास, सुन्दरदास, प्राणनाथ, धरनीदास, यारी साहब, बुल्ला, दरिया, दूलनदास, चरनदास, गुलाल, गरीबदास, पलटू, भीखा और तुलसी साहब इसी सन्त-परम्परा के प्रमुख नाम हैं। साथ ही साथ नानक, अंगद, अमरदास, रामदास अर्जुनदेव आदि सिक्ख-गुरु, जम्भनाथ का बिश्नोई सम्प्रदाय, बाबालाली सम्प्रदाय, साईंदास, जसनाथी सम्प्रदाय, हीरादासी सम्प्रदाय आदि के कविगुण भी इसी वर्ग में आते हैं। सच तो यह है कि सन्त तथा सन्त-मत न तो कोई सम्प्रदाय विशेष है, न निश्चित दर्शन। यह तो विविध कवियों के सामान्य विचारों से युक्त रचित काव्य की सामूहिक संज्ञा है। नि:सन्देह इस प्रकार का काव्य कालान्तर में, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक रचा जाता रहा है। जहाँ तक प्रश्न है, इसके उदय का तो वास्तव में यह पूर्ववर्ती नाथपंथ का ही विकसित रूप था जिसमें समयानुसार शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, इस्लाम का एकेश्वरवाद, योगियों का यौगिक साधना एवं सूफियों का प्रेम-पीर आदि को मिलाकर एक सर्वथा नये रंग-रूप में ग्रहण किया गया था।

सन्त-काव्य का वर्गीकरण :- सन्तकाव्य का वर्गीकरण दो आधारों पर किया जा सकता है- (1) शुद्ध दर्शन की दृष्टि से तथा (2) सन्त-कवियों की साधना-प्रणाली की दृष्टि से। प्रथम के प्रमाण हैं-पूर्णतया अद्वैतवादी सन्त कवि (यथा कबीर दादू, मलूकदास) जबकि दूसरे के भेदाभेदवादी गुरूनानक। साधना-प्रणाली से देखें तो एक तरफ सुन्दरदास जैसे पूर्ण योग-साधक हैं तो दूसरी ओर दादू, नानक, रैदास ओर मलूकदासादि आंशिक योगसाधक, जिनके यहाँ योग उल्लेख मात्र ही है।

सन्त-काव्य की प्रवृत्तियाँ (मान्यतायें अथवा विशेषतायें)

(अ) भावपक्ष सम्बन्धी-

निर्गुण की उपासना- सभी सन्त कवि निर्गुण के उपासक हैं। उनका ब्रह्म अविगत् है। उसका न तो कोई रूपाकार है एवं न निश्चित आकृति। वह तो अनुपम, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वसुलभ है। घट-घट में बसता है तथा ब्राहोन्द्रियों से परे है। स्वयं सन्तकवि कबीर के शब्दों में-

'जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पहुप बास से पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥'

इसी निर्गुणोपासना के कारण वे सगुण का विरोध करते हैं तथा तर्कोधार पर उसकी निस्सारता प्रकट करते हैं; यथा-

'लोका तुम ज कहत हौ नन्द कौ, नन्दन नन्द धू काकौ रे।
धरनि अकास दोउ नहिं होते, तब यह नन्द कहाँ धौ रे॥'

समन्वयपरक एकेश्वरवाद की स्थापना- सन्त कवि जीवन के सभी क्षेत्रों में समन्यवादी हैं। नि:सन्देह धर्म तथा दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। यही कारण है कि, मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्न:' में यकीन न कर ये ईश्वर के एक सामान्य, सहज-सुलभ रूप को ही मानते हैं। कबीर में यह बात और भी अधिक रूप-मात्रा में मिलती है। वे तो सगुण-निर्गुण को भी एक ही मानते हैं-"गुण में निर्गुण, निर्गुण में गुण, बारि छाँडि क्यूं बहिये।"

एकेश्वरवाद मूलत: निर्गुण वैष्णव विचारधारा है। इसके अनुसार ब्रह्म एक ही है, जो लीला में भरकर 'स्व-विस्तार' करता है। माया-बाधा से ही वह भिन्न प्रतीत होता है। यह माया-बाधा अज्ञान की देन है तथा इसको गुरु-ज्ञान से दूर किया जा सकता है। कबीर इसी एकेश्वरवाद की स्थापना करते हैं।

रहस्यवाद- सन्त कवियों ने स्थान-स्थान पर अपनी उक्तियों को रहस्यमय रूप में प्रकट किया है। फलत: उनकी उक्तियाँ अस्पष्ट, अटपटी तथा गूढ़-गहन बन गईं। कबीर की उलटवासियों में ये सभी बातें उपलब्ध हैं। इसके अतिरित रहस्यवाद की अन्य स्थितियाँ और रूप भी इनमें भरपूर मात्रा में मिलते हैं। कहा तो यहाँ तक गया है कि "रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है।" यहाँ पर दृष्टव्य बात यह भी है कि कबीर की रहस्यवादी उक्तियाँ केवल शुष्क और बौद्धिक मात्र नहीं हैं वरन् इनमें तो सूफियों के 'प्रेम' तथा वैष्णवों की भक्ति के साथ-साथ काव्यात्मकता भी पूरी-पूरी मात्रा में है। इन गुणों ने नि:सन्देह कबीरीय रहस्यवाद को 'मौलिक' बना दिया है। 'फलत: कबीर का रहस्यदिव भारतीय अद्वैतवाद तथा इस्लामी सूफीवाद की संगमस्थली होने पर भी इनसे वाशिष्ट है।"

उभयपक्षी श्रृंगार- श्रृंगार का मूल भाव है 'रति' (प्रेम) तथा उभय पक्ष है-संयोग एवं वियोग। ध्यान दें तो "प्रेम की व्यंजना का तीव्रतम् रूप पति-पत्नी-सम्बन्ध में ही होता है। कारण पति-पत्नी में अन्तराल नहीं रहता। सन्तों ने इसी कारण अपनी प्रेमासक्ति, राम को पति तथा स्वयं को उनकी पत्नी मानकर, व्यक्त की है।" इन्होंने वैष्णवों तथा सूफियों से उनका दाम्पत्य श्रृंगार ग्रहण किया एवं उसके दोनों पक्षों का विशद् चित्रण किया। यही कारण है कि इनके यहाँ संयोग और वियोग दोनों के बड़े मार्मिक और विविध अवस्थाओं से युक्त चित्र मिलते हैं।

सामाजिक अन्याय का विरोध- मध्यकाल के अधिकतर सन्त कवि समाज के निम्न-वर्ग से संबंधित थे। उन्होंने अपने जीवन में सामाजिक विषमता तथा तद्जनित अन्यायों को देखा, भोगा था। अतएव उनमें इसके प्रति विरोध-भावना होनी स्वाभाविक ही थी। प्रारम्भ में, विशेषत: महाराष्ट्री सन्तों में, विरोध का यह स्वर सरल-सहज था, पर कबीर में आकर तो यह आक्रोशमय एवं कटुतर तक बन गया। नि:सन्देह इसका एक कारण कवि की निर्भीकता एवं अखण्डता भी थी। कबीर ने अपने समकालीन समाज और उसके विविध पक्षों पर कटु-तीखे प्रहार किये हैं। सच तो यह है कि उनकी उन व्यंगोक्तियों ने उनको सुधारक तथा युग-नेता तक बना दिया है। "सच पूछा जाये तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ।"

बाह्याडम्बरों का विरोध- संत कवियों ने अपने युगीन समाज को आँखें खोल कर देखा एवं उसके सच्चे रूप को जनता के सामने जैसे का तैसा रखा भी था। कबीर नि:सन्देह इस दृष्टि से भीं अग्रणी कवि हैं। उन्होंने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में प्रचलित धार्मिक-सामाजिक आडम्बरों के ढोल की पोल खोली है। शैव हो या शाक्त, ब्राह्मण हो या मुल्ला, मुंड मुंडाने वाला साधु हो या

माला फेरने वाला पण्डित, सभी के पाखण्डी रूप कबीर ने उजागर किये हैं। इसी तरह मूर्ति-पूजा, माला, छापा-तिलक, तीर्थाटन, वेद-शास्त्र, कुरा-पुरान, मक्का-मदीना, रोजा-नमाज, न जाने कितने आडम्बरों का विरोधपरक मजाक उड़ाया है, न जाने कितनी रीति-परम्पराओं का उन्मूलन किया है कबीर ने। सच में तो,...उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित समस्त अन्धविश्वासों, रूढ़ियों एवं मिथ्या सिद्धान्तों द्वारा प्रचारित सामाजिक विषमताओं का मूलोच्छेद करने का बीड़ा उठाया और निर्ममतापूर्वक सभी पर प्रहार किया।"

लोक-कल्याण की भावना- ये सन्त कवि मात्र विरोधी नहीं हैं। गहराई में झांकें तो उनके व्यंग्य-विरोध का मूलोद्देश्य लोक-कल्याण करना तथा सच्ची मानवता की प्रतिष्ठा करना है। वे तो सबको 'हरि का बन्दा' मानते हैं एवं जागृति के लिये समझाते हैं। ये कवि लोक-कल्याण भी बाह्याडम्बरों से नहीं, 'मन की पवित्रता' से मानते हैं।

नारी-विरोध- सन्त कवि मूलत: नारी के नहीं बल्कि उसके 'कामिनी' रूप के विरोधी हैं। नि:सन्देह इसका सबसे बड़ा कारण तत्कालीन समाज में नारी के इसी भोग्या रूप की प्रधानता का होना है। कबीरादि ने नारी को प्राय: इसी रूप में ग्रहण किया है, यद्यपि 'सती' को अंग और पतिव्रता निहकरमी को 'अंग' एवं दाम्पत्यमूलक प्रतीकों वाले पदों (गीतों) में उन्होंने नारी की प्रशंसा भी की है। माया को कामिनी रूप प्रदान कर कबीर भी, अन्य सन्तों की भाँति, नारी को त्याज्य बताते हैं। उनके मतानुसार, नारी नरक का द्वार, अवगुणों की जन्मदाता, मोहिनी, ठगिनी, विषैली, भुजंगिनी आदि न जाने क्या-क्या है।

गुरु-महिमा का गान- सन्त-काव्य में गुरु वह शक्ति मानी गयी है, जो साधक-भक्त की अज्ञानता को दूर करके उसको सच्चा ज्ञान प्रदान करती है। सूफियों की भाँति यह गुरु अनुपम, अत्यधिक पूज्य, ब्रह्म-ज्ञान प्रदाता और मायादि विकारों से दूर करने वाला है। इसी से ये कवि गुरु को न केवल इन गुणों से युक्त मानते हैं, बल्कि उसको ब्रह्म के समकक्ष रख उसका आदर भी करते हैं।

(ब) कलापक्ष सम्बन्धी

सरल मिश्रित भाषा- उस काल में भी संस्कृत यद्यपि सारे भारत में व्याप्त थी, पर वह प्राय: विद्वत् वर्ग तक सिमट कर रह गयी थी। दूसरी तरफ, जनसमाज के अधिकाधिक निकट रहने वाला और विशेषकर अपने काव्योपदेशों से उसी को झिंझोरने वाला कवि वर्ग प्रान्तीय या लोकसभाओं की अलख जगा रहा था। काव्य की रीति-नीति तक की उपेक्षा कर देने में इसको आपत्ति नहीं थी। नि:सन्देह इनमें सर्वाधिक अग्रणी रहे थे-सन्त कवि, विशेषत: कबीर। सोचें तो, इन 'मसि कागद छुओ नहीं' वाले सन्त-कवियों के लिए यह स्वाभाविक भी था। उन्मुक्त भाव से रचे गये जन-काव्य के लिए नियमबद्ध-शुद्ध भाषा लाभप्रद नहीं थी और न ही ये कवि (एकमात्र सुन्दरदास को छोड़कर) काव्यशस्त्र-ज्ञाता थे। ये तो निम्न-वर्ग से आये थे, उसी से संबंधित थे। स्वयं का इनका घुमक्कड़पन (देशाटन) और अलग-अलग स्थानों से संबंधित इनका अनुयायी-समुदाय भी इसी प्रवृत्ति को बढ़ाने में सहायक था। समग्रत: इन्होंने 'सुधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' कही जाने वाली, किन्तु एकदम सर्वसुलभ, सर्वसरल भाषा को ही अपनाया और कबीर के शब्दों में, यही माना कि-

"संसकिरत है कूप-जल, भाखा बहता नीर।
जब चाहो तब ही डुबौ, सीतल होय सरीर॥"

से तो सीधी बात सीधे तरीके से कहने के कायल थे तथा उसूलन कथित अथवा सर्वसाधारण के रोजमर्रा की बोलचाल की भाषा में ही अपना सन्देश रखने के पक्षपाती भी थे, यद्यपि इसी के फलस्वरूप ये प्रान्तीयता के भाषा-रंग से भी बच नहीं सके। नानक में पंजाबीपना तथा कबीर में

बनारसीपना की भरमार इसी का प्रमाण है। साथ ही, इनकी काव्य-भाषा का एक रूप स्थिर कर पाना भी मुश्किल बन गया है; यथा कबीर की भाषा, जिसको स्वयं कबीर ने 'पूरवी' किन्तु दूसरों ने 'बनारस-मिर्जापुर-गोरखपुर की बोली', भोजपुरी का ही एक रूप, 'राजस्थानी-पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली या सधुक्कड़ी', 'संध्या भाषा', 'अवधी तथा ब्रज के समीप' आदि न जाने क्या-क्या कहा एवं माना। समग्रत: मिश्रणप्रधान होने से इसको 'मिश्रित भाषा' ही माना जा सकता है।

प्रतीक योजना- सन्त-काव्य के प्रतीक मुख्यत: बौद्ध तथा नाथ-सम्प्रदायों से या फिर सीधे-सीधे जन-जीवन के लिए गये हैं। मुख्यत: ये चार प्रकार के हैं-**(1)** पारिभाषिक (यथा गगन गुफा, गगन मंडल, चन्द्र, सूर्य, सरस्वती, गंगा-यमुना, बाधिन, पाताली आदि), **(2)** संख्यावाचक शब्दों से युक्त (यथा दुई पाठ, त्रिकुटी, तीन गाउ, चार चोर, अष्ट कमल, दशम् द्वारादि), **(3)** अन्योक्ति परक (यथा चौराहा, बालम, चदरिया, गांव, दुलहिन, भरतार आदि) तथा **(4)** उलटबाँसी वाले प्रतीक (यथा मछली, मृग, सर्प, कुंआ, खरगोश आदि)। उक्ति-वैचित्र्य तथा भाव-वृद्धि इनकी अपनी विशिष्टताएं हैं।

छन्द तथा अलंकार- सन्त कवि न तो काव्यशास्त्र के अध्येता थे एवं काव्यशास्त्रीय नियमों से बद्ध होकर काव्य-सृजन करना इनका लक्ष्य था। 'काव्यगत' तो इनके यहाँ बाइ-प्रौडक्ट है अर्थात् अपने-आप बन जाने वाला। फलस्वरूप छन्द-अलंकारों के नियमबद्ध रूप या पाँडित्य प्रदर्शन करने वाली चमत्कारिता इन कवियों में नहीं मिलती। फिर भी छन्द-अलंकार दोनों ही इनके मध्य में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, किन्तु सिर्फ साधन रूप में। साखी (दोहा) और सबद (गीत या पद) इनके प्रिय छन्द हैं यद्यपि चौपाई, कवित्तादि भी मिल जाते हैं। सुन्दरदास तो 'सवैये के बादशाह' माने गये। जहाँ तक प्रश्न है-अलंकारों का तो मुख्यत: यहाँ रूपक, उपमा, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा, श्लेष तथा अनुप्रासादि बहुप्रचलित अलंकार ही प्रयुक्त हुए हैं।

युगबोध- सन्त-काव्य का मूल दृष्ट है-युग-चेतना को जागृत करके युगबोध का संदेश देना। वास्तव में, 'अपने समय के सजग प्रहरी' ये ही थे। इन्होंने अपने युग को आँख खोलकर देखा ही नहीं उसकी कटुता, विषमताओं, विसंगतियों तथा आडम्बरादि का डटकर, निर्भीकतापूर्वक, विरोध भी किया। साथ ही साथ मानवता-मात्र का सन्देश भी दिया। सच तो यह है कि इनसे अधिक स्पष्टवक्ता, क्रांतिदर्शी, समाज-सुधारक एवं निर्भीक कवि अन्य किसी भी वर्ग सम्प्रदाय में नहीं मिलते। कबीर इसका सर्वोत्तम प्रमाण हैं।

निर्गुण भक्ति काव्यधारा

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की धारा को डा. रामकुमार वर्मा ने 'सन्त काव्य परम्परा' का नाम दिया। डा. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने संत शब्द की व्युत्पत्ति शांत शब्द से मानी है और इसका अर्थ निवृत्ति मार्ग या बैरागी किया है। आचार्य प. परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है, जिसने संत रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो, सतत् स्वरूप, नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अवरोध की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो, वही संत है।

सामान्य विशेषताएं

संत- मत का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। देश की विचित्र परिस्थितियों ने इस मत को जन्म दिया और संत मत के सामान्य भक्ति मार्ग में विविध वादों का समन्वय हुआ। इसमें हिन्दू-मुसलमान, गोरख पंथी, वेदान्ती, सूफियों एवं वैष्णवों के धार्मिक

सिद्धान्तों का भी समन्वय हुआ। संक्षेप में इस मत के कवियों की सामान्य विशेषताओं को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है -

1. **काव्य-रचना मुख्य उद्देश्य नहीं** - संत कवियों का लक्ष्य काव्य रचना नहीं था. उनकी रचनाओं में जन-जन के हित और उद्‌बोधन की भावना सन्निहित है। भावों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने प्रतीकों, उपमाओं, रूपकों की योजना अवश्य की है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि काव्योत्कर्ष अथवा काव्य सौष्ठव उनका साध्य नहीं था, उनकी भाषा का रूप भी स्थिर नहीं है। कविता को ये संत अपनी अनुभूत सत्यों का मर्म दूसरों के समक्ष अभिव्यक्त करने का एक उत्तम माध्यम समझते थे।

2. **तत्व चिन्तन का स्वरूप** - संत कवि मूलत: दार्शनिक थे फिर भी उनकी भक्ति रस से सिक्त बानियों में दार्शनिक तत्वों के निरूपण का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रयत्न अवश्य दृष्टिगोचर होता है। डॉ. बड़थ्वाल के मत से संत कवियों का परम तत्व एकेश्वरवादी विचारधारा से पुष्ट अद्वैतवाद के अधिक निकट है। संतों का ब्रह्मा त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत, विलक्षण, अलख, अगोचर, सगुण, निर्गुण से परे, प्रेम पारावार और दार्शनिकवादों तथा तर्कों से ऊपर है। वह अनुभूतिगम्य और सहज प्रेम से प्राप्य है।

3. **साधना मार्ग** - संतों की साधना का भवन ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति इन चारों स्तम्भों के सहज संतुलन पर टिका हुआ है। जिस प्रकार संत लोग अन्य विचारों में प्रगतिशील हैं वैसे ही साधना मार्ग के निर्धारण में भी पर्याप्त सजग हैं। निर्गुण संत ज्ञानत्मिका भक्ति के उपासक हैं। कोरा ज्ञान उन्हें अहंकार मूलक प्रतीत हुआ है। पोथी ज्ञान के भी वे विरोधी हैं। पोथी ज्ञान के भार से लदा हुआ आदमी उस गधे के समान है जो चन्दन का भार ढोकर भी उसकी सुगन्ध का सुख नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और अप्रत्यक्ष इन तीनों प्रमाणों में से ये संत केवल प्रत्यक्ष या अनुभूति जन्य ज्ञान को ही प्रमाणिक मानने के पक्ष में हैं। कबीर ने कहा भी है 'तू कहता कागज की लेखी, मैं कहता आखिन की देखी।'

4. **भक्ति मार्ग** - सत्य भाषण और सत्याचरण को संत कवि भक्ति का सर्वप्रमुख तत्व मानते हैं। इसी को वे अपने शब्दों में कथनी की समरसता की संज्ञा देते हैं। नाम जप या 'नाम स्मरण' संतों की भक्ति का मूल आधार है। भक्ति के प्रेरक तत्वों में श्रद्धा, सत्संग, उपदेश, गुरु, जीवन तथा जगत की क्षण भंगुरता के ज्ञान से उत्पन्न वैराग्य भावना आदि का स्थान महत्वपूर्ण है। संत कवियों ने इन सबकी आवश्यकता और महत्ता का विवेचन विस्तार से किया है। आश्रय में निहित प्रेम या भक्ति को अभिव्यक्त करने वाले तत्वो में दैन्य, आत्म - निवेदन मय आसक्ति आदि मुख्य हैं।

5. **सूफीमत का प्रभाव** - संत मत पर सूफी प्रेम साधना का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कबीर ने लिखा है -

प्रेम बिना धीरज नहीं, विरह बिना वैराग।
सतगुरु बिन जावै नहीं, मन मनसा का दाग।
जोगी जनम से बड़ा, सन्यासी दरवेस।
बिना प्रेम पहुंचे नहीं, दुरलभ सतगुरु देस।

6. **रहस्यवाद की प्रवृत्ति** - संत कवियों ने शंकराचार्य के अद्वैत मत को लेकर अपनी रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति की है किन्तु इनका रहस्यवाद माधुर्य भाव से वेष्टित है। इन संत कवियों के विरह में लौकिक दाम्पत्य भाव के सहारे आत्मा का शाश्वत क्रन्दन व्यक्त किया गया है और यह मिलन सहज नहीं है।

7. **रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध** - प्राय: सभी सन्त कवियों ने रूढ़ियों, मिथ्याडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। इन्होंने मूर्ति पूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली

हिंसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज, हज्ज आदि विधि विधानों, बाह्यआडम्बरों, जाति-पांति भेद आदि का डटकर विरोध किया है।

8. **नारी के प्रति दृष्टिकोण** - संत कवियों ने नारी को माया का प्रतीक माना है। उनके विश्वासानुसार कनक और कामिनी ये दोनों दुर्गम घाटियां हैं। कबीर का कहना है कि -

नारी की झाई परत, अन्धा होत भुजंग।
कबीरा तिनकी कौन गति, नित नारी के संग।

जहां इन्होंने नारी की इतनी निन्दा की है वहीं दूसरी और सती और पतिव्रता के आदर्श की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। कबीर ने कहा है -

पतिव्रता कैसी भली, काली कुचित वुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, बारो कोटि सरूप॥

9. **लोक संग्रह की भावना** - इस वर्ग के सभी कवि पारिवारिक जीवन व्यतीत करने वाले थे। नाथ पंथियों की भांति योगी नहीं थे। संतों ने आत्म शुद्धि पर बहुत बल दिया है। जहां एक और संत लोग कवि और भक्ति आन्दोलन के उन्नायक हैं, वहां समाज सुधारक भी। संत काव्य में उस समय का समाज प्रतिबिम्बित है।

सन्त साहित्य की प्रगतिशीलता का कारण

सन्त कवियों का लक्ष्य काव्य रचना नहीं था। उनकी रचनाओं में जन-जन के हित और उसके उद्‌बोधन की भावना सन्निहित है। सन्त सम्प्रदाय विश्व सम्प्रदाय है और उसका धर्म विश्व धर्म है। इस विश्व धर्म का मूलाधार है - हृदय की पवित्रता। संतों की प्रगतिशील विचार धारा का एक प्रमुख कारण यह है कि इस मत का प्रचार निम्न वर्ग के अशिक्षित लोगों में रहा। इन संतों ने अगर एक ओर गुरु, भक्ति, साधु-संग, दया, क्षमा, सन्तोष आदि का उपदेश दिया है तो दूसरी ओर वे कपट, माया, तृष्णा, कामिनी, कांचन तीर्थ, व्रत, मांसाहार, मूर्ति पूजा और अवतारवाद के विरोधी थे। जिस युग में संत मत के कवियों की सृष्टि हुई वह अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता का युग था, संतों की पीयूष वर्षिणी उपदेशमयी वाणी ने उनमें एक दृढ़ नैतिकता की प्रतिष्ठा की। अपनी इसी प्रगतिशील विचारधारा के कारण इस सम्प्रदाय ने धर्म का ऐसा स्वाभाविक, निश्छल, व्यवहारिक तथा विश्वासमय रूप जन भाषा में उपस्थित किया जो विश्वधर्म बन गया और अब भी जन जीवन में पुनः जागरण का संदेश दे रहा है। इनकी वाणी में जो उपदेश हैं वे केवल दर्शन का विषय न होकर जीवनरस से ओत-प्रोत हैं। उनमें अनुभूति, सौष्ठव और जीवन का अमर संदेश है। संत साहित्य की प्रगतिशीलता का एक मुख्य कारण तत्कालीन परिस्थितियां थीं। मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव से हिन्दू जाति के निम्न वर्ग में नवीन जागृति आई। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में जांति-पांति तथा छुआछूत का कोई भेद नहीं है। सहधर्मी होने के कारण वे सब समान हैं। इस स्थिति को देखकर संतों ने रूढ़िवाद एवं मिथ्याडम्बर का विरोध करना शुरू कर दिया। 'जाति-पांति न पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' के अनुसार उनके मत में जाति-पांति का कोई महत्व नहीं था। संत लोग साधारण धर्म तो मानते थे, किन्तु साम्प्रदायिकता या वर्णाश्रम सम्बन्धी विशेष धर्म के पक्ष में न थे। संतों ने वर्णाश्रम व्यवस्था का समूल नाश करना चाहा। चाहे संस्कृति की दृष्टि से यह हेय हो किन्तु तत्कालीन परिस्थिति के कारण यह आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने हीन वर्णों को उच्च वर्गों के स्तर पर लाने की चेष्टा की। संतों ने जिस साधारण धर्म को स्वीकार किया है, वह एक प्रकार से शुद्ध मानव धर्म ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमान एकेश्वरवादी, पैगम्बर धर्म का मूर्ति खण्डन और एकेश्वरवादी और हिन्दू मुस्लिम भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण जो विषम परिस्थितियां उत्पन्न

हो गई थीं, उनका प्रभाव सन्तमत पर स्पष्ट है। वास्तव में निर्गुण सन्त काव्य धारा अपने समय का पूरा प्रतिनिधित्व करती है।

सगुण भक्ति काव्यधारा की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

मध्यकालीन भक्ति आंदोलन भारतीय इतिहास की अनन्यतम घटना है। यह आंदोलन न केवल दो तीन शताब्दियों तक सीमित रहा, अपितु इसने पूरे भारतीय जनमानस को कई शताब्दियों तक प्रभावित किया है। इस आंदोलन के पूर्व भारत में शैवधर्म की प्रधानता थी अधिकांश राजवंश शैव धर्मानुयायी थे। किन्तु आठवीं शताब्दी तक आते-आते शैवों का प्रभाव कम पड़ने लगता है और वैष्णव भक्ति आंदोलन जोर पकड़ने लगता है। दक्षिण भारत में अनेक आचार्यों ने भिन्न भिन्न सम्प्रदायों का प्रवर्तन करना प्रारम्भ किया, जिनमें सगुण धर्म का प्रचार करने में चार महान आचार्यों का महतीय योगदान है। उनके नाम इस प्रकार हैं रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी और निम्बार्क स्वामी। इनके पश्चात् कुछ आचार्य और हुये जिन्होंने वैष्णव धर्म को व्यापक बनाया। इनमें रामानन्द, चैतन्य और वल्लभाचार्य प्रमुख हैं। रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य ने अद्वैत, विष्णुस्वामी ने शुद्धाद्वैत और निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना की। इन आचार्यों ने द्वैत सगुण भक्ति धारा को निजी अनुभूतियों एवं शास्त्रीय दार्शनिकता से संवलित किया। इन आचार्यों ने सगुण भक्ति के उस रूप की प्रतिष्ठा की जिनमें मानव हृदय विश्राम भी पाता है और कलात्मक सौंदर्य से मुग्ध और तृप्त भी होता है।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में भक्ति की दो धारायें प्रवाहित हुईं- निर्गुण और सगुण। इन दोनों धाराओं में मध्यकालीन सगुण सम्प्रदाय वैष्णव धर्म से पोषण प्राप्त करता है। इस सम्प्रदाय की दोनों शाखाओं रामभक्ति धारा तथा कृष्णभक्ति धारा में ईश्वर सगुण है। इन्होंने ज्ञान, कर्म और भक्ति में से भक्ति को ही उपजीवा के रूप में ग्रहण किया।

सगुण सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि में वैष्णव धर्म और भक्ति का समृद्ध साहित्य है। इस साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं- भगवत् गीता, विष्णु और भागवतपुराण, पांच रात्रि संहितायें, नारद भक्ति सूत्र और शांडिल्य भक्ति सूत्र।

इस धारा की कतिपय विशेषतायें इस प्रकार हैं- (1)ईश्वर का सगुण रूप, (2)अवतार की भावना, (3)लीला रहस्य, (4)रूपोपासना, (5)शंकर के अद्वैतवाद का विरोध, (6)भक्ति क्षेत्र में जाति भेद की अमान्यता, (7)गुरु की महत्ता, (8) भक्ति, (9) जीवन।

सगुण भक्ति धारा की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए प्रोफेसर बृजलाल गोस्वामी ने एक स्थान पर लिखा है, "इस प्रकार मध्यकालीन सगुण काव्य में हिन्दी साहित्य ने उत्कर्ष के चरम बिन्दु को छू लिया है। इसमें मनुष्य की समस्त वृत्तियों के प्रसादन की शक्ति है। इसमें सौन्दर्य धर्म का घातक अथवा द्वेषी बनकर नहीं आता। सौन्दर्य भी भगवान की ही विभूति है। इस साहित्य के साधकों ने अन्तर और बाह्य वैषम्य की लीला को एक रस कर दिया है। हमें लीला तत्व पर ध्यान मनन पूर्वक करना चाहिए और इसकी गंभीरता की थाह लेनी चाहिए। सगुण भक्ति धारा की तीनों शाखाओं में साम्य एवं वैषम्य समानतायें निम्नानुसार हैं-

समानतायें

1- सगुणोपासना- राम काव्य और कृष्णकाव्य दोनों में ही साकारोपासना का विधान किया गया है। सगुण भगवान के सुगम और फिर भी अगम चरित्र को सुनकर भक्त लोग उसमें अनुरक्त होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में कहा भी है-

सगुण रूप सुलभ अति, निर्गुण जानि नहिं कोई
सुगम अगम नाना चरित, सुनि-सुनि मन भ्रम होई ॥

सूरदास ने भी निर्गुण ब्रह्म की अग्राह्यता एवं सगुणब्रह्म की सरलता की ओर इंगित करते हुए कहा- **रूप, रेख गुण, जाति, जुगुति बिनु निरालम्ब मन चकित धावे।**
सब विधि अगम विचारहिं ताते, सूर सगुण लीला पद गावे ॥

इस प्रकार निरगुनियों के जो भगवान अगुण, अलख और अजहर हैं वही भगवान भक्त के प्रेमवश सगुण रूप धारण करते हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार के कवियों ने भगवान के सगुण रूप उपासना को अधिक महत्व दिया है।

2- **नाम रूप कीर्तन-** सगुण और निर्गुण दोनों ही धारा के कवियों ने भगवान के नाम रूप का स्मरण बड़े ही मनोयोग के साथ किया है। गोस्वामी तुलसीदास ने बालकाण्ड में भगवान राम के नाम की महिमा का उल्लेख विस्तार से किया है-

नाम रूप गति अकथ कहानी, समुझत सुखद न परति बखानी।
अगुम सगुन विच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी।

कृष्णभक्ति धारा के कवियों ने भगवान के नाम जप का महत्व प्रतिपादित किया है।

3- **भक्ति का रूप-** भक्ति के दो रूप हैं, रागानुगा और वैधी। तुलसीदास ने कहा है कि भगवान अखंड ज्ञान स्वरूप है और जीव मायावश अज्ञानी। गोस्वामी जी के शब्दों में -

ईश्वर अंस जीव अविनाशी, चेतना अमल सहज सुख राशी।
सो मायावास भयउ गोसाई, बंधउ कीर मर्कट की नाई ॥

जो भक्त भगवान के प्रति रागात्मक सम्बन्ध रखते हैं उनकी भक्ति को रागानुगा भक्ति कहते हैं। वैधी भक्ति में भक्त की कर्त्तव्य बुद्धि सदैव जागृत रहती है और वह अन्त तक विधि नियमों का पालन करता रहता है। सगुण धारा के दोनों पक्ष राम-भक्ति तथा कृष्णभक्ति के कवियों ने रागानुगा भक्ति का ही सहारा लिया है। हालांकि गोस्वामीजी की भक्ति भाव की है।

4- **मोक्ष-** सगुण भक्तों की भक्ति का चरम उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति है। भक्त लोग भगवान की भक्ति में लीन होकर अन्त में मोक्ष प्राप्ति करते हैं। उनकी सगुण भक्ति के अनुसार भगवान सगुण अवतार लेकर भक्तों के दुःख दूर करते हैं तथा अन्त में भक्ति से प्रसन्न होकर गोलोकवास बैकुण्ठवास देते हैं। यही इनकी भक्ति की चरम परिणति है।

विभिन्नतायें

(1)रामकाव्य में दास्य भावना की भक्ति को प्रमुखता प्राप्त है तथा उसमें वर्णाश्रम धर्म, कर्मकाण्ड व वेद मर्यादा आदि पर पूर्ण आस्था प्रकट की गई है लेकिन वहीं कृष्णकाव्य में संख्य व माधुर्य भाव की भक्ति को प्रधानता दी गई है। बल्लाभाचार्य के पुष्टि मार्ग में ब्रह्म व जीव में कोई मर्यादा नहीं है अतः कृष्णभक्त कवि के सखा ही हैं और पुष्टिमार्ग के अनुसार जीव की सफलता कृष्ण लीला में तादात्म्य से ही मानी गई है। इस प्रकार रामकाव्य में यदि लोकरक्षण की भावना की प्रधानता प्राप्त है तो कृष्ण काव्य में लोकरंजन की प्रमुखता है।

(2) कृष्ण काव्य की अपेक्षा रामकाव्य में जनसंपर्क भावना अधिक है, क्योंकि स्वान्तः सुखाय होते हुये भी वह सर्वसुखाय है। इसलिए तुलसी के रामचरित मानस के पात्र अलौकिक होते हुए भी लौकिक प्रतीत होते हैं, तथा वह हमें जीवन की प्रत्येक विकट परिस्थिति में प्रेरणा व स्फूर्ति देता है, इसीलिए उसका प्रचार सर्वत्र है। ठीक इसके विपरीत कृष्णकाव्य पर युग मानस की छाप नाममात्र की है। कृष्णभक्ति शाखा के कवि अपनी भक्ति भावना और आध्यात्म भावना में इतने समन्वित थे

कि उन्होंने समाज की ओर तनिक भी ध्यान न दिया और न यह सोचा कि उनकी श्रृंगार रस पूर्ण उक्तियों का समाज और साहित्य पर क्या अनिष्टकारी प्रभाव पड़ेगा।

(3) कृष्ण-काव्य में केवल बृजभाषा ही प्रयुक्त हुई है, इसके विपरीत राम-काव्य बृजभाषा और अवधी दोनों में लिखा गया है। साथ ही अवधी के साहित्यिक रूप की जैसी विशुद्ध, परिमार्जित, कोमलकांत पदावली तुलसी की रचनाओं में मिलती है, वैसी कृष्णकाव्य में कदाचित ही दृष्टिगोचर होती हो।

(4) रामकाव्य और कृष्णकाव्य में भक्ति भावना की दृष्टि से भी विभिन्नता है। रामकाव्य में दास्यभाव की भक्ति है जबकि कृष्णकाव्य में सख्य और माधुर्य भाव की। रामकाव्य समन्वय के दृष्टिकोण को लेकर चला है। भाव, भाषा, छन्द तथा इष्टदेव सब क्षेत्रों में समन्वय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामकाव्य और कृष्णकाव्य मूलत: सगुणवादी होते हुये भी बहुत सी बातों में परस्पर भिन्न हैं। दोनों के काव्य को देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि सगुणवादी कवि केवल चिन्तनशील भक्त ही नहीं, बल्कि कवि भी हैं। इनके काव्यों में आलंकारिकता, कला तथा कवित्व का सुन्दर सामन्जस्य मिलता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस धारा में कवियों ने "भक्तिरस" की स्थापना में सर्वाधिक योग दिया है। यदि वैष्णव भक्ति का उदय न हुआ होता तो भक्ति को रस के रूप में स्वीकृति मिलना असम्भव था। साथ ही इतना बड़ा और श्रेष्ठ साहित्य अस्तित्व में न आया होता। राम और कृष्ण के रूप, गुण,शील का जैसा साहित्यिक वर्णन सगुण भक्त कवियों द्वारा हुआ, वैसा न तो पहले हुआ था और न बाद में हो सका। भारतीय साहित्य में सौन्दर्य और माधुर्य का मणिकांचन संयोग इसी सगुण भक्ति साहित्य में दृष्टिगोचर होता है। फलत: इस साहित्य को हम भारतीय वाड्मय की एक श्रेष्ठ निधि के रूप में गौरवास्पद धरोहर समझते हैं।

इकाई-तीन

कबीर

कबीर के काव्य

कबीर के काव्य सृजन का उद्देश्य भव्य कविता करना नहीं वरन् अपनी अनुभूतियों का शब्दांकन करना था। वह मूलत: सन्त थे और उन्होंने आध्यात्मिक साधना हेतु ही वाणी का माध्यम ग्रहण किया। उनकी आध्यात्मिक साधना एक और तो अगोचर, अगम्य, परब्रह्म से साक्षात्कार को संकल्पित है व दूसरी और इसी आध्यात्मिक साधना ने अद्वेतवाद के व्यावहारिक रूप से समाज में व्याप्त कदाचार व कुरीतियों को समूल नष्ट करने का निश्चय किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत हैं -'कबीर ने कभी काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की, तथापि उनके आध्यात्मिक रस की नगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में रस इकट्ठा नहीं हुआ था।'

कबीर के काव्य में पौरुष सहज ही झलकता है। ऐसे हिन्दू कवि बिरले हैं, जो अपने संकल्प, अनुभूति के प्रति निष्ठा भाव रखते हों। कबीर हिन्दी काव्य के वह सूत्रधार थे जिन्होंने कविता को आम जिन्दगी का दर्पण बनाया तथा समाज और धर्म को अपने वर्ण्य विषय का केन्द्र बिन्दु चुना।

समीक्षा की दृष्टि से उनके काव्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - साखी, पद व रमैनी जिनका वर्ण्य विषय समाज ही है। युगदृष्टा कबीर के काव्य में वेदान्त, प्रेमसाधना, संसार की नश्वरता, माया की प्रबलता, हृदय की शुचिता, धार्मिक आडम्बरों का विरोध व साम्प्रदायिक एकता का प्रतिपादन रहा है। डा. रामकुमार वर्मा ने उनके काव्य सृजन के मन्तव्य को इस प्रकार उद्घाटित किया है - 'इन ग्रन्थों का वर्ण्य विषय प्राय: एक ही है - वह है ज्ञानोपदेश। कुछ परिवर्तन कर वही विषय प्रत्येक ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है। विस्तार में उनके वर्ण्य विषय यह हैं - योगाभ्यास, भक्त की दिनचर्या, सत्य वचन, विनय और प्रार्थना, आरती उतारने की रीति, नाम महिमा, सन्तों का वर्णन, सत्यरूप निरूपण, माया विषयक सिद्धान्त, गुरु महिमा, सत्संगति आदि। ये विषय वही हैं जिनके द्वारा घूम फिरकर निर्गुण ईश्वर का निरूपण हो जाता है। अनेक स्थलों पर सिद्धान्त और विचारों में आवर्तन भी हो जाता है।'

बौद्धिकता की प्रधानता – कबीर का काव्य असाधारण है। उनका समूचा जीवन सांसारिक वृत्तियों तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने में गया। उनका काव्य सायुक्त व मौलिकता से परिपूर्ण है। उन्होंने कविता लिखने के लिए मात्र शब्दों का चयन नहीं किया, बल्कि उन शब्दों का चिन्तन व मन्थन किया। तत्पश्चात् उसे अपने काव्य में प्रयुक्त किया। इस प्रकार उनका काव्य भावुकता से परे बुद्धि तत्व की प्रधानता लिए है।

भाव पक्ष – कबीर के साहित्य में रसानुभूति अद्भुत है। उपदेशात्मक सूक्तियां व हठ योग सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त उनका काव्य पूर्ण रससिक्त है। उनकी कविता में शान्त, अद्भुत व श्रृंगार रसों की त्रिवेणी मिलती है। अपने मानसिक विकारों से संघर्ष सम्बन्धी काव्य को वह शान्त रस से आप्लवित करते हैं। उनके काव्य में भावपक्ष भी ज्ञान तत्व की भांति विद्यमान है। आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्य का विषय बनाकर उसे सरलता व सहजता से लोकमात्र में प्रस्तुत कर कबीर ने सही अर्थों में काव्य की आत्मा को पहचाना है। उनके काव्य में भक्ति भावों की प्रचुरता है। उन्होंने आत्मा-परमात्मा समान अदृश्य पदार्थों को प्रतीक व उपयुक्त उपमानों के द्वारा सादृश्य के रूप में चित्रित किया है। आत्मा को प्रेयसी व परमात्मा को प्रेमी मानकर वह सरस काव्यवर्षण करते हैं।

कबीर ने संयोग व वियोग का सशक्त चित्रण कर अपनी पटुता का परिचय दिया है। उनके आध्यात्मिक संयोग व वियोग के चित्रों की तुलना में अन्य कवि सफलता के सोपान तक पहुंचने में असमर्थ रहे हैं। इस सन्दर्भ में एक विद्वान समीक्षक का मत प्रासंगिक है - 'कबीर की कविता में तो भावना नृत्य करती है और उसी से रस प्रवाह होता है। कबीर की रहस्यमयी कविताओं में जो रस की धारा बहती है, वह आत्मा की कामना और वासना के क्षेत्र से बाहर निकालकर निर्वाण के परमानन्द की स्थिति को प्राप्त कराने में समर्थ होती है। इस स्थिति को प्राप्त करके कवि स्वयं प्रेम रस का पान करता है और ब्रह्म के रंग में रंगकर मतवाला हो जाता है। कबीर की रचनाओं में इस रस की न जाने कितनी शीतल धाराएं बहती हुई मिलती हैं, जिनमें स्नान करके सहृदय पाठक जीवन की वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।'

रसानुभूति – रस की दृष्टि से कबीर के काव्य में मुख्यत: तीन रसों यथा श्रृंगार, अद्भुत एवं शान्त का समावेश है किन्तु प्रधानता श्रृंगार की है। उनका भक्ति व आध्यात्मिक साहित्य प्रिय और प्रियतम की अटूट कड़ी है जो आत्मा परमात्मा की प्रतीक है। कबीर ने अपने काव्य का सृजन रस सिद्धान्त के अनुसार किया, काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार नहीं किया, फिर भी श्रृंगार उनके काव्य में प्रभावी रूप से उभरकर आया है।

(अ) **श्रृंगार रस** - कबीर ने दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से ब्रह्म का रहस्यवादी चित्रण किया है। उनके पदों में श्रृंगार के दोनों पक्षों, संयोग व वियोग का वर्णन समान रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

(ब) **अद्‌भुत रस** - स्थायी रूप से विस्मय जिन उक्तियों में विद्यमान होता है वे आश्चर्यानुभूति होती हैं। यह उलटबांसियां अधिकांश अद्‌भुत रस से अभिसिक्त हैं। उन्होंने अद्‌भुत रस में अलौकिक व अदृश्य का सजीव वर्णन कर इस रस को प्रचुरता से अपने काव्य में विस्तीर्ण किया है।

(स) **शान्त रस** - भक्ति भावना से प्रेरित कबीर की कविता में शान्त रस का प्राधान्य है। जीवन के विभिन्न आयामों को उजागर कर मानवीय संवेदनाओं की सहज प्रस्तुति में शान्त रस का वर्णन हुआ है। इस रस में उन्होंने, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार, सत्य की अवधारणा का प्रतिपादन, जीवन के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया है।

अलंकार सौन्दर्य - कबीर के काव्य में अनायास ही बहुलता में अलंकारों का समावेश है। कबीर के काव्य में उपमा, रूपकों की तो प्रचुरता है ही, साथ ही अन्योक्ति, लोकोक्ति, सांगरूपक, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार भी दृष्टव्य हैं। यमक, श्लेष, अनुप्रास अलंकारों की भी आवृत्ति उनके काव्य को सौन्दर्य प्रदान करती है।

कबीरदास ने अपने काव्य में अलंकारों का सहज ही प्रयोग किया है। काव्य प्रतिभासम्पन्न होने के उपरान्त भी कबीर के जीवन का लक्ष्य कविता करना नहीं, बल्कि इसके माध्यम से साधना, भक्ति भावना का प्रचार-प्रसार व सामाजिक कूप-मण्डूकता पर प्रहार करना रहा।

प्रतीक विधान - काव्य में सौन्दर्य की दृष्टि से प्रतीक योजना का अपना विशेष महत्व है। प्रतीक का शाब्दिक अर्थ निशान, अंग, पता व अवयव है। प्रतीक के द्वारा जो मूलत: अप्रस्तुत है, हम प्रस्तुत के द्वारा उसके गुण-धर्म का स्मरण करते हैं। मानव जीवन प्रतीकों से आप्लावित है। कुच प्रतीक सार्वभौमिक होते हैं, जैसे श्वेत रंग पवित्रता का एवं सिंह पौरुष का प्रतीक है।

कबीर की अनुभूतियां आध्यात्मिक रंगों से सराबोर हैं। अपने विचारों को बोधगम्य बनाने के लिए उन्हें अधिक प्रतीकों का आलम्बन करना पड़ा है। प्रतीक शैली वस्तुत: कबीर-काव्य की प्रमुख शैली कही जा सकती है। उनके काव्य में कुछ प्रतीक तो विचित्र हैं जिनका प्रतीकात्मक अर्थ खोजना कठिन है। इन प्रतीकों का आद्यात्मिक अर्थ जाने बिना उनके काव्य को समझना सरल नहीं है। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रतीकों के उदाहरण इस प्रकार हैं।

1. दाम्पत्य प्रतीक -

दुलहिनी गाबहुं मंगलाचार।

--- --- --- --- ---

लाली मेरे लाल की, जित देखौंतित लाल।
लाली देखनि में चली, मैं भी हो गयी लाल॥

2. पारिभाषिक प्रतीक -

गंगतीर मोरी खेती बारी, जमुनातीर खरिहाना।
सातों बिरवी मोरे वीपजैं, पांचू मोर किसाना॥

--- --- --- --- --- ---

आकासे मुख औधों कुवां, पाताले पनिहारि।
ताकां पाणि को हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि॥

उलटबांसियां - कबीर के काव्य में उलटबांसी पद्धति उल्लेखनीय है। इनमें लोक-विपरीत बातें कही गई हैं। ऊपरी अर्थ बोध होने पर इन लोक विरुद्ध बातों की प्रस्तुति से श्रोता अथवा पाठक को आश्चर्य होता है। लेकिन इन प्रतीकों के आध्यात्मिक अर्थों का जब उद्‌घाटन होता है

तब हमें यह असंगत अथवा विरोधमूलक प्रतीत नहीं होती। कबीर के काव्य में अलंकार प्रधान उलटबांसी, प्रतीक प्रधान उलटबांसी व अद्‌भुत रस प्रधान उलटबांसी के दिग्दर्शन मुख्यत: होते हैं।

छन्द - कबीर ने अपने काव्य में मुख्य रूप से मुक्तकों का ही प्रयोग किया है। उन्होंने छन्दों में दोहा, चौपाई का प्रयोग किया है। साखियां दोहा छन्द में हैं और रमैनी में कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा है। इसी क्रम में रमैनी का सृजन किया है।

भाषा - कबीर की भाषा में राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं का मिश्रण है। उनकी भाषा को साधुक्कड़ी भी कहा जाता है जिसमें बिना व्यतिक्रम के विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में डा. सुनीतिकुमार चटर्जी का कथन उल्लेखनीय है -

'कबीर यद्यपि भोजपुरी क्षेत्र के निवासी थे, किन्तु तात्कालीन हिन्दुस्तानी कवियों की तरह उन्होंने ब्रजभाषा तथा कभी-कभी अवधी का भी प्रयोग किया। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप झलक आता है, किन्तु जब वे अपनी भोजपुरी बोली में लिखते हैं जो ब्रजभाषा तथा अन्य भाषाओं के तत्व प्राय: दिखाई पड़ते हैं।

आचार्य श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है। खड़ी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी, फारसी, आदि अनेक भाषाओं का पुट उनकी उक्तियों पर चढ़ा है।'

विभिन्न विद्वानों की सम्मति से कबीर की भाषा के सम्बन्ध में यह विशेषताएं उभरकर आती हैं -

1. *कबीर की बोली का प्रमुख आधार पूर्वी बोली (भोजपुरी व अवधी) है।*
2. *कबीर की भाषा पर खड़ी एवं ब्रजभाषा का अधिक प्रभाव है।*
3. *कबीर की भाषा में राजस्थानी एवं पंजाबी भाषा के शब्दों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है।*
4. *कबीर की भाषा साधुक्कड़ी मानी जाती है। जिसे पंचमेल खिचड़ी की संज्ञा दी जाती है। उसे किसी एक भाषा की परिधि में नहीं बांधा जा सकता।*
5. *उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा का रूप अधिकांशत: विषय व भाव के अनुकूल है।*

साहित्य में स्थान - कबीर का प्रमुख ध्येय कविता कराना नहीं, वरन् अपनी आत्मानुभूतियों का प्रचार- प्रसार कर मानव को संयमित रास्ते का अनुसरण कराना था। भाषागत दोष होने के उपरांत भी कबीर का हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान है। इन्होंने पहली बार कविता को धरातल से जोड़ा व आम-आदमी एवं कविता का परस्पर तादात्म्य स्थापित किया। कबीर का साहित्य वस्तुत: उच्च नैतिक आदर्शों का प्रतिस्थापक है। उनका जीवन और काव्यादर्श समान रहे। वह समरसता व मानवता के पुजारी हैं। हिन्दी साहित्य में कबीर मात्र कवि न होकर एक लोकनायक के रूप में अवतरित हुए हैं जो समाज की सड़ी गली प्रथाओं का समूल नाश करके इस धरा को स्वर्ग बनाने का उद्यम करते हैं। निर्गुण भक्तिधारा के श्रेष्ठ कवि कबीर काव्य में आध्यात्मिक प्रभाव के प्रवर्तक हैं। उनकी वाणी में कला पक्ष का अभाव होते हुए भी भावगत सरलता है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कबीर हिन्दी जगत का वह व्यक्तित्व हैं जो समता, विश्वबन्धुत्व व सामाजिक न्याय का अनुयायी है।

रहस्यवाद का अभिप्राय- रहस्यवाद कवि की एक ऐसी साहित्यिक अभिव्यक्ति है जिसमें वह परम सत्ता के विषय में अपने विचारों को सीधी-सादी भाषा में प्रस्तुत न करके एक नई भाषा में

अंकित करता है वह परमसत्ता को अपनी लेखनी का विषय बनाकर एक ऐसे अनंत संसार में पहुंच जाता है जहां सुख-दुख, आशा-निराशा, हास्य-रुदन, संयोग-वियोग, शोक-विषाद आदि भी समान हैं।

रहस्यवाद के प्रकार- मुख्यत: रहस्यवाद दो तरह का होता है- 1. साधनात्मक, 2. भावात्मक।

साधनात्मक रहस्यवाद में परमात्मा तक पहुंचने की प्रक्रिया का वर्णन किया जाता है तथा भावात्मक में आत्मा के विरह-मिलन के विविध प्रसंगों की सुंदर झांकी प्रस्तुत होती है।

कबीर का रहस्यवाद- हिन्दी साहित्य में कबीर अद्वितीय रहस्यवादी कवि माने जाते हैं। वे वेदांती थे। इसी कारण वे जीव तथा ब्रह्म की एकता के समर्थक थे। दूसरी तरफ वे सूफियों के प्रेम की पीर से भी प्रभावित थे। अत: उनके रहस्यवाद में अद्वैतवाद का माया तथा चिंतन व सूफियों का प्रेम भाव स्पष्टत: देखा जा सकता है। डॉ. रामकुमार वर्मा का कथन दर्शनीय है। कबीर का रहस्यवाद एक तरफ तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद की क्रोड़ में पोषित है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफी-सिद्धांतों को स्पर्श करता है। इसका विशेष कारण यही है कि कबीर हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के संतों के सत्संग में रहे तथा वह प्रारंभ से ही यह चाहते थे कि दोनों धर्म वाले आपस में दूध-पानी की तरह मिल जायें।

"इसी विचार से वशीभूत होकर उन्होंने दोनों मतों से संबंध रखते हुए अपने सिद्धांतों का निरूपण किया। रहस्यवाद में भी उन्होंने अद्वैतवाद तथा सूफीमत की 'गंगा-जमुना' साथ ही बहा दी।"

इसके अतिरिक्त कबीर पर हठयोग का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। हठयोगी साधन-पद्धति के आधार पर उन्होंने कुंडलिनी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, मूलधार आदि छ: चक्रों, सहस्त्रार या हरन्ध आदि पर प्रकाश डाला है।

कबीर के रहस्यवाद के विविध रूप

कबीर के काव्य में साधनात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार का रहस्यवाद दृष्टिगत होता है।

1. **साधनात्मक रहस्यवाद-** कबीर के साधनात्मक रहस्यवाद का विकास योगियों के नाथ संप्रदाय से हुआ है। अत: उन पर योगियों तथा हठयोग का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनका मत है कि जब साधक की कुंडलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना के मार्ग से छहों चक्रों को पार करके ब्रह्मरंध्र में पहुँच जाती है तो एक अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है। यह आनंद मोक्ष का द्वार है। कबीर कहते हैं-

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिना बाजा झनकार उठै जहां, जहं समुझि परै।
जब ध्यान धरै।

कबीर के साधनात्मक रहस्यवाद पर भारतीय अद्वैत का भी प्रभाव है। उसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने वेदांतियों की तरह मायावाद को भी स्वीकार किया है तथा विभिन्न दृष्टांतों से अद्वैत का प्रतिपादन किया है। शंकर के अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए वे कहते हैं-

पाणी ही ते हिम भया, हिम व्है गया विलाई।
जो कुछ था सोई भया अब कछू कहा न जाई।

कबीर के रहस्यवाद में कहीं अनहद सुनाई पड़ता है तथा कहीं गगन घंटा का घहराना सुनाई पड़ता है। उन्होंने अपने साधनात्मक रहस्यवाद को भक्ति और प्रेम का पुट देकर सरस और मधुर

भी बना दिया है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कबीर का साधनात्मक रहस्यवाद नीरस और शुष्क न होकर सरस तथा मधुर है।

2. **भावात्मक रहस्यवाद-** कबीर में भावात्मक रहस्यवाद भी पाया जाता है। इसमें जीवात्मा अपने आधार से प्रेम करती है तथा उसके अभाव में विरह-व्यथा से दग्ध रहती है। इस पर सूफियों की प्रेम पद्धति का अभाव है पर कबीर ने इसे भारतीय रूप दे दिया है। उन्होंने साधक, जीव व आत्मा को प्रेमिका तथा पत्नी रूप में, ब्रह्म का प्रियतम रूप में चित्रित किया है। यथा-

दुलहिन गावहु मंगलचार।
हमारे घरि आए हो राजा राम भरतार।

अथवा

नैना अंतरि आव तू, ज्यू हौं नेन झैपेउं।
ना हौं देखूं और कू, ना तोहि देखन देउं॥

भावात्मक रहस्यवाद का मूलाधार प्रेम है। कवि ने प्रेम की विभिन्न स्थितियों का चित्रण किया। आत्मा परमात्मा को प्रतीक्षा करते-करते कह उठती है-

आंखड़ियाई झाई पड़ी, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़िया छाला पड़ा, राम पुकारि-पुकारि॥

प्रियतम के विरह में आत्मा बहुत दुःखी है। आठों पहर का यह कष्ठ उसे असह्य हो उठता है। इसलिए कहती है-

कै विरहनि कू मींच दे, कै आपा दिखलाई।
आठ पहर का दाझणा, मोपै सहा न जाइ॥

कबीर के हृदय में परमात्मा को खोजने की तीव्र अभिलाषा जाग उठी। अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं-

परवति परवति में फिरया, नैन गंवाई रोइ।
सो बूंटी पाऊ नहीं, जाते-जीवनि होइ॥

अंत में आत्मा को अपने चिर प्रतीक्षित प्रियतम के दर्शन हो जाते हैं तथा वह कह उठती हैं-

बहुत दिनन में प्रीतम आए। भाग बड़े घरि बैठे आए॥

इस प्रकार भावात्मक रहस्यवाद में कवि ने आत्मा के कई भावों आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, विरह-मिलन आदि के विविध चित्र प्रस्तुत किये हैं।

कबीर के रहस्यवाद की विशेषताएं

रहस्यवाद का विकास क्रम है-सीमा का असीम के प्रति कुतुहल, विस्मय, जिज्ञासा, तादात्म्य अनुभव, अनुराग, नम्रता, तन्मयता, विरह तथा मिलन। कबीर ने इन सभी स्थितियों का निर्वाह किया है। उनके रहस्यवाद की निम्न विशेषताएं हैं-

1. **जिज्ञासा की भावना-** कबीर निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म के उपासक हैं। वैसे उनकी दृष्टि में न तो उनके इष्टदेव का कोई रूप है तथा न कोई आकार। फिर भी वह सर्वत्र विद्यमान है। कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहां उसका अस्तित्व न हो। कबीर की यह अस्तित्व बुद्धि ही अपने इष्टदेव के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करती है तथा इसी से वे यह जानना चाहते हैं कि वह ब्रह्म कैसा है? कहां है? और किस तरह अपनी क्रियाएं करता रहता है? वास्तव में कोई भी व्यक्ति इस मर्म

को नहीं जानता है इसलिए कबीर बड़े बेचैन रहते हैं। उनका कहना है जब इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना आदि नाड़ियां ही नहीं हैं तो फिर समस्त गुण कहां समा जाते हैं?

2. **दर्शन एवं मिलन का प्रयत्न-** कबीर मानते हैं कि उनका प्रियतम निर्गुण एवं निराकार है, वह सर्वत्र विद्यमान होकर भी व्यक्त है फिर भी वह एक जिज्ञासु साधक की भांति उस ब्रह्म से मिलने के लिए अत्यंत व्यथित तथा बेचैन रहते हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार कोई वियोगिनी मार्ग के किनारे खड़ी होकर अपने प्रियतम के विषय में पंथिकों से पूछती है। उसी तरह कबीर भी अपने प्रियतम राम से बिछुड़ कर अपने गुरु से पूछते हैं कि मुझे मेरे प्रियतम का संदेश कुछ तो सुनाओ कि वे कब आकर मिलेंगे-

"विरहिनी अभी पंथ सिरि, पंथी बूझे जाइ।
एक सबद कहो पीव का, कबर मिलेंगे जाइ।"

3. **भौतिक विघ्न एवं वेदना की प्रवृत्ति-** कबीर ने अपने रहस्यवाद में साधनापथ के अनेक विघ्नों तथा कष्टों का भी उद्‌घाटन किया है। सबसे पहले कबीर ने उस ठगिनी माया का ही उल्लेख किया है जो बड़ी मीठी है, जिसका छोड़ना कठिन है जो अज्ञानी पुरुष को बहका-बहका कर खाती रहती है-

"मीठी-मीठी माया तजी न जाई।
अग्यानी पुरुष को भोली-भाली खाई।"

फिर कहते हैं कि यह 'मोर तोर को जेवडी' है और यह इतनी विश्वास-घातनी है कि इसके आकर्षण के कारण भक्त भगवान का भजन नहीं कर पाता। यह ऐसी पापिनी है कि एक वैश्या की तरह संसार रूपी हाट में जीवों को फंसाने का फंदा लिए बैठी रहती है-

"कबीर माया पापिणी, फंद लैं बैठी हाटि।"

कबीर ने इस माया के दो रूप बताये हैं-'कंचन और कामिनी'। इन दोनों के रूप में यह जीवों को ठगती है जिसके कारण जीव जन्म-मरण के चक्कर में फंसकर संसार में भटकता रहता है।

4. **अथक एवं अगोचर सत्ता के दर्शन का आभास-** कबीर ने इस स्थिति का अत्यंत मनोहारी वर्णन किया है। कबीर कह रहे हैं कि मैंने बिना देह तथा आकार का ऐसा कौतुक देखा है तथा बिना कार्य और चंद्रमा के प्रकाश का दर्शन किया है-

"कौतुक दीठि देह बिन, रवि ससि बिना उजास।"

यह प्रकाश असीम एवं अनंत है, उसे देखकर ऐसा लगता है मानो सूर्य की सेना हो या अनेक सूर्य एक साथ उदित हो रहे हों-

"कबीर तेज अनंत का मानो अगी सूरज सेणि।"

इस तरह कबीर ने उस अव्यक्त एवं अगोचर सत्ता के दर्शन का बड़े प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है।

5. **सांसारिक ज्ञान एवं अपरोक्ष अनुभूति-** कबीर ने अपनी इस अपरोक्ष अनुभूति का अत्यंत मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। कबीर कहते हैं कि जिस उत्कृष्टता तथा तीव्रता के साथ मन माया जन्म विषयों में रमता है उतनी ही उत्कृष्टता तथा तीव्रता के साथ मन राम में रम जाये तो वह साधक तारामंडल से भी परे वहां पहुंच जाता है। राम के गुण-गान करने के त्रिगुणात्मक माया का पाश कट जाता है। कबीर यह भी कहते हैं कि यहां पर राम नाम की लूट हो रही है जिससे जितना लूटा जाये लूट लो-

"लूटि सकै तौ लूटियो, राम नाम की लूटि।
पीछे ही पछिताहुगे, यह तन जैहे छूटि॥

कबीर की इस अनुभूति का मूलाधार प्रत्यक्ष जीवन है। कबीर ने "तू कहता कागद की लेखी, मैं **कहता हूं आंखों की देखी**" **कहकर अपने अपरोक्ष** अनुभूति की वास्तविकता को स्पष्ट कर दिया है।

6. **चिर-मिलन-** रहस्यवाद की अंतिम स्थिति आत्मा तथा परमात्मा का 'चिर मिलन' मानी गई है। कबीर ने बड़े ही ओजस्वी शब्दों में इस अंतिम स्थिति का भी उद्‌घाटन किया है। इस मिलन की अवस्था का रूपक बांधते हुए उन्होंने स्वयं को दुलहिन तथा राम को प्रियतम कहा है और विवाह होने पर जिस प्रकार पति-पत्नी मिलते हैं उसी प्रकार अत्यंत प्रेमपूर्वक आत्मा और परमात्मा का मिलन हो रहा है तथा जिस प्रकार एक पत्नी अपने पति के साथ एक शय्या पर शयन करती है उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा एक होकर शयन कर रहे हैं-

बहुत दिनन थे प्रीतम पाए, भाग बड़े घर बैठे आए।
मंदिर मांहि भया उजियारा, लै सूती अपना पिय प्यारा॥

विवाह के उपरांत जैसे पत्नी अपने प्रियतम से मिलती है उसी प्रकार 'अंक भरे भर भेंठिया, मन में नाही धीर' कहकर कबीर ने उस दृश्य को प्रकट किया है। इस मिलन के उपरांत अनिर्वाचनीय आनंद की उपलब्धि होती है। इससे स्पष्ट है कि इस स्थिति में भगवान साधक और साध्य तथा जीव तथा ब्रह्म एक हो जाते हैं, दोनों का भेद मिट जाता है और पूर्ण अद्वैत की स्थापना हो जाती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर का रहस्यवाद हिन्दी साहित्य की अनुपम देन है। कबीर ने अपने रहस्यवाद के विविध रूपों का चित्रण किया है। प्रेम की तीव्रता, आध्यात्मिकता, जिज्ञासा, मिलन आदि अनेक विशेषताएं उनके रहस्यवाद में ही मिलती हैं। अत: हम कह सकते हैं कि शुद्ध रहस्यवाद उन्हीं का है। डॉ. "श्यामसुंदर दास" ने सत्य लिखा है- "रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊंचा है। शुद्ध रहस्यवाद तो सिर्फ उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों (जायसी आदि) का रहस्यवाद तो उनके प्रबंधक के बीच-बीच में बहुत जगह थिगली-सा लगता है और प्रबंध से अलगता अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।"

कबीर की दार्शनिकता

1. **दर्शन का अर्थ-** दर्शन का अर्थ है-देखना। सृष्टि के सत्य को कवि जिस रूप में देखता है, उसे ही दर्शन या दार्शनिक विचारधारा की संज्ञा दी जाती है।

2. **काव्य और दर्शन का संबंध-** काव्य और दर्शन का परस्पर संबंध है। प्रत्येक सत् काव्य में दर्शन होता है। दर्शनहीन काव्य, काव्य नहीं हो सकता। इसलिए तो कवि को दृष्टा का जा सकता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का मत है कि कोई भी व्यक्ति तब तक कवि नहीं हो सकता, जब तक कि वह दार्शनिक न हो।

3. **कबीर दर्शन पर विभिन्न मतों का प्रभाव-** डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास के निर्गुण संतों के काव्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हुए उन विभिन्न दर्शनों का प्रभाव दिखाया है। जो इस तरह हैं-1. सिद्धों का प्रभाव, 2. वाममार्गी शाखा, 3. नाथ, इस्लाम और सिद्धों

का प्रभाव, 4. एकेश्वरवाद, 5. सूफी मन का प्रभाव, 6. वैष्णवों का प्रभाव, 7. भारतीय वेदांत का प्रभाव।

इन्हीं प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण संत काव्य की सामान्य विशेषताएं उन्होंने दिखाई हैं- 1. निर्गुण की उपासना। 2. अहंकार और त्याग। 3. रूढ़ियों का विरोध। 4. जाति-पांति का विरोध। 5. रहस्यवाद। 6. पारिभाषित शब्दावली का प्रयोग। 7. प्रेम तत्व (सूफी मत)। 8. भाषा (जनभाषा के शब्दों का ग्रहण करना)।

कबीर के ऊपर भी उपर्युक्त सभी दर्शनों का प्रभाव देखा जा सकता है तथा सभी प्रवृत्तियां उनके काव्य में उभरती हैं। उदाहरणार्थ-

(क) **भारतीय अद्वैत और वेदांत का प्रभाव-** उपनिषद् में ब्रह्म के विषय में कहा गया है। वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित और गंध रहित है। कबीर भी यही कहते हैं-

"नीति सरूप वरण नहीं, जाके घटि-घटि रह्यो समाई।
पॉड ब्रह्माण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरूप अरु अंत न होई॥"

(ख) **सूफी संप्रदाय अथवा प्रेम तत्व-** डॉ. सरनामसिह ने लिखा है-जो लोग यह कहते हैं कि कबीर ने सूफी प्रेम साधना से कुछ नहीं लिया, वे हाथी को देखकर भी उसके अस्तित्व का निषेध करते हैं। ऐसी बात है नहीं कि कबीर ने परमात्मा के सिर्फ प्रिय (पति) रूप को ही अंगीकार किया था अपितु, माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि अनेक रूपों में भी उन्होंने चित्रित किया है। सूफी संप्रदाय में इन सब रूप को स्वीकार करने की स्वतंत्रता नहीं है। सूफियों के लिए परमात्मा माशूक है, आत्मा आशिक है तथा कबीर के दांपत्य संबंध में हरि 'पीव' हैं और वे उनकी बहुरिया हैं। 'पीव और बहुरिया' के पीछे भारतीय दांपत्य जीवन की जो व्यंजना है, उसमें सूफी मान्यता का भी पुट है।

"मेरी बहुरिया को धनिआ नाऊ।
लै राखियो रम जनिआ नाऊ॥"

यही नहीं कबीर ने भी सूफीमत की तरह पीड़ा को ही प्रेम का साधन माना है-

"आंखनिया झांई पढ़ी पीव निहारि निहार।
जभड़ियां छाला पड़या पीव पुकार पुकार॥"

(ग) **वैष्णव मत का प्रभाव-** कबीर पर वैष्णव संप्रदाय का प्रभाव दिखाते हुए डॉ. त्रिगुणांयत ने लिखा है-"कबीर में वैष्णवों के सत का सभी सारभूत तत्व विद्यमान है। अत: यह कहना है कि उनमें वैष्णवों के केवल प्रपति तथा अहिंसा तत्व ही मिलते हैं, अधिक उपयुक्त नहीं है। निर्गुण राम का उपासक होने के कारण उन्हें वैष्णव न मानना, उस महात्मा के साथ अन्याय करना है।"

कबीर में वैष्णवी दया, करुणा, परपीड़ानुभूति इत्यादि के कई उदाहरण मिलते हैं। वे 'अहिंसा परमोधर्म' के समर्थक हैं। वे भक्ति को महत्व देते हैं, पर उसकी साधना की कठिनता का भी उन्हें ज्ञान है-

"भगति दुबारा सांकरा, राई दसवें भाई।
मन तो मंगल होई रहा, क्यूं करि सके समाई॥"

वैष्णव भक्त को वे सर्वोच्च पद प्रदान करते हैं-

"कबीर धनी ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनो पूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ सब जग गया अऊत।"

(घ) **बौद्ध संप्रदाय का प्रभाव-** बौद्ध प्रवृत्ति भी कबीर में पाई जाती है। बौद्ध साहित्य में और बौद्ध वर्णन में जिस तरह की क्षणभंगुरता पर निराशा व्यक्त की गई है-कबीर में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ-

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात।
देखते ही छिप जाएगा, जस तारा प्रभात।"

(ड.) **सिद्धों और नाथों का प्रभाव-** कबीर ने योग्य साधना, षडचक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि का वर्णन सिद्धों तथा योगियों के प्रभाव से किया है-

"सुरति समाणी निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वयं दुवार।"

4. **कबीर के काव्य में उनकी दार्शनिक विचारधारा की अभिव्यक्ति-** कबीर ने भी तत्कालीन परिवेश तथा परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर ब्रह्म और जगत् तथा इन दोनों के बीच माया आदि पर अपने विचार प्रकट किए हैं। मोक्ष आदि पर भी कबीर ने कुछ न कुछ कहा है। इसी को दृष्टि में रखकर उनकी विचारधारा को संक्षेप में इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है-

(क) **कबीर के ब्रह्म संबंधी विचार-** कबीर ने कहा कि हमारा ध्यान निर्गुण तथा सगुण से परे है-

"निर्गुण सगुण ते परै तहां हमारा ध्यान।"

अब यह निर्गुण सगुण से परे क्या हो सकता है? निश्चित रूप से हमें बीच की स्थिति का पता लगाना कठिन है। कबीर ने इस संन्ध में कुछ विचार प्रकट किए हैं-

"जाके मुख माथा नहीं, नाहि रूप कुरूप।
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप।"

(ख) **कबीर के माया संबंधी विचार-** अन्य संतों की तरह कबीर ने भी माया को जीवन और ब्रह्म, साधक और साध्य के बीच की सबसे बाधक शक्ति माना है, उदाहरणार्थ-

"कबीर माया मोहनी, जैसे मीठी खांड।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं करती भांड॥"

X X X

माया महा ठगिनी हम जानी।
तिरगुन फाँस लिए कर डोलै मधुरी बानी॥

इसलिए कबीर इस माया से हमेशा बचते रहे। ज्ञान की आंधी का आह्वान उन्हें स्वीकार हुआ-

"संतों ! आई ज्ञान की आंधी।
भ्रम की टाटी सवै उढ़ानी माया रहे न बांधी॥"

(ग) **जगत संबंधी कबीर के विचार-** कबीर ने भी जगत को मिथ्या ही माना है, पर इतना नहीं जितना अद्वैतवादी मानते हैं, कबीर का माध्यम सूफियों का माध्यम है, जो इसी जगत के बीच होकर ऊपर ब्रह्म तक पहुंचने की बात करते हैं। शंकराचार्य की तरह कबीर जगत् का त्याग करने की बात नहीं करते। वे तो कहते हैं कि इस जगत् तथा इस सत्ता के बीच इस माया बंधन को हटा दो और अपने आपको पहचानो। यद्यपि संसार के विषय से उन्होंने बड़ी निराशा व्यक्त की है-

"यौ ऐसा संसार जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के त्यौहार को झूठे रंगि न भूल॥"

पर इसमें जो भाव है वह अस्तित्वहीनता का भाव है, उनको छोड़कर कहीं अकर्मण्य होने का भाव नहीं है। जो ऐसा सोचते हैं वे कबीर को समझते ही नहीं।

(घ) **जीवात्मा संबंधी विचार-** कबीर ने जीवात्मा को ईश्वर का अंश माना है और उस अंश को कबीर उस ब्रह्म में जोड़ने का प्रयास करते रहे हैं। अत: उन्होंने हठयोग का भी सहारा लिया है-

"कह कबीर इहु राम को अंसु, जस कागद पर मिटै न मंसु।"

(ड.) **मोक्ष विचार-** कबीर भी मोक्ष का वही कारण मानते हैं, जो अन्य संत मत में आता है, अर्थात् माया की पहचान और उसका निराकरण जीव और ब्रह्म को एक साथ मिला देता है-

"जैसे जलहि तरंग तरंगनी, ऐसे हम दिखलावेंगे।
कहै कबीर रबामी सुखसागर, हंसहि हंस मिलावेंगे॥"

5. **उपसंहार-** उपयुक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर में दर्शन का वैष्णव पक्ष ही अपने रूप में अधिक निखरा है हालांकि उन पर अन्य विचारधाराओं के भी प्रभाव हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में-ये यथार्थत: न तो निर्गुणवादी हैं और न सगुणवादी ही। उनके अनुसार वह परम तत्व निर्गुण और सगुण दोनों से परे की वस्तु है और अनुभव में आने पर भी अनिर्वचनीय है।" डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना और भी अधिक सराहना करते हैं- 'कबीर ने अपने दार्शनिक विचारों को अत्यंत सरल तथा सीधी-साधी भाषा में जनता के सामने प्रस्तुत किया है, इसी कारण कबीर के विचारों की ओर शिक्षित वर्ग उतना आकृष्ट नहीं होता, जितना कि अशिक्षित एवं अल्पशिक्षित वर्ग आकृष्ट होता है। कबीर के इन विचारों में जनसाधारण के हृदय तक पहुंचने की अपूर्व क्षमता है, क्योंकि कबीर ने दर्शन गूढ़तिगूढ़ सिद्धांतों एवं विचारों को अत्यंत सरल एवं सुबोध बनाकर जनता के सामने रखा है। रात-दिन व्यवहार में जाने वाले पदार्थों के उदाहरण द्वारा उन्हें समझने की चेष्टा की है।

कबीर का युग विभिन्न धार्मिक पाखण्डता व मानवीय शोषण का पर्याय रहा। मत-मतान्तरों व सम्प्रदायों में आपसी कटुता तीव्र थी। कूपमण्डूकता का साम्राज्य था। जीवन के हर क्षेत्र में अन्धकार रूपी अन्धविश्वास का परचम फहरा रहा था। ऐसे संक्रमण काल में कबीर ने युग चेतना का संवाहक होने के नाते कवि धर्म का शाश्वत निर्वाह किया व सामाजिक अन्याय की प्रवृत्तियों पर तीव्र प्रहार किया। कबीर ने अपने समय के सभी मतों के सापेक्षिक सिद्धान्तों को आत्मसात कर कुरीतियों व मानवीय संवेदनाओं के विपरीत मान्यताओं पर जमकर प्रहार किये। सन्त कवि व फक्कड़पन में आत्मलीन कबीर ने तत्कालीन समय की विसंगतियों के विरुद्ध विद्रोह कर स्वर मुखरित किया जिसकी प्रतिध्वनि साहित्य में सहज रूप से विद्यमान है।

धार्मिक पाखण्ड का खण्डन – उनका युग धार्मिक प्रभाव की प्रधानता का युग था। स्वार्थी, लोभी, कामी, सन्यासी-यती वेशधारी जनता की धार्मिक भावनाओं के साथ खिलवाड़ कर अपनी उदरपूर्ति कर रहे थे। भक्ति वस्तुत: ढोंग का पर्याय बन गयी थी। तथाकथित धर्माचारों से आम

जनता दुखी थी, लेकिन उनकी वेदना को मुखरित करने वाला कोई नहीं था। ऐसे समय में कबीर ने पाखण्ड को ललकारा -

नगन फिरत जो पाइये जोग, बन का मिरग मुकति सब होग।
क्या नांगे क्या बांधे चाम, जब नहिं चिन्हसि आतम राम।

उन्होंने सन्ध्या प्रात: स्नान को भी ढोंग की संज्ञा दी जो मात्र स्नान करके ही भक्ति का आवरण ओढ़े हैं -

संध्या प्रात: स्नान कराहीं, यो भये दादुर पानी माहीं।

शाक्तों, चार्वाकों एवं जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों की तथाकथित अहिंसा पर उन्होंने तीखा व्यंग्य किया है -

जैन बोध अरू साकत सैनां, चारवाक चतुरंग बिहूंना।
दोना भरवा चम्पक फूला, तामैं आजीव बसै कर तूला।

हिन्दू मुस्लिम पाखण्ड का विरोध – हिन्दू - मुस्लिमों में व्याप्त पाखण्ड का कबीर ने अपने काव्य में तीखा विरोध किया है। दोनों धर्मावलम्बी जब अपनी-अपनी आत्म स्तुति करते हैं व अपने को श्रेष्ठ ठहराने का प्रयास करते हैं तब कबीरदास दोनों धर्मावलम्बियों को फटकारते हैं -

हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।
वैश्या के पायन तर लोटे, यह देखो हिन्दुआई।

X – X – X

मुसलमान को पीर औलिया, मुर्गा-मुर्गी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घर में ही करें सगाई।

उनका अभिमत था कि दोनों धर्मों में कई कमियां हैं। नैतिकता व पवित्रता से झूठे मानदण्ड स्थापित किए गए हैं। वास्तविक जीवन में धर्म के सिद्धान्तों से इनका कोई लेना-देना नहीं है। धर्म निरपेक्षता के प्रतीक कबीर ने मन्दिर - मस्जिद विवाद को ढकोसला बताया व दोनों धर्मों की वास्तविकता को इस प्रकार उल्लेखित किया-

इनके काजी मुलां पीर पैगम्बर, रोजा पछिम निवाजा।
इनके पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग रिवाजा।

X – X – X

तुरक मसीति देहुरै हिन्दु, दहुअँ राम खुदाई।
जहां मसीति देहुरा नाहीं, तहां काकी ठकुराई।

कबीर भारत के पहले कवि हैं जिन्होंने मुस्लिम कट्टरपंथियों की परवाह न कर उनकी तथाकथित परम्पराओं का मजाक उड़ाया। सुन्नत (खतना) के सन्दर्भ में यह उदाहरण दृष्टव्य है-

हौं तो तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छुटै, आधा हिन्दू रहिये॥

ऊंच-नीच, जाति पांति का विरोध – उनका काल सामाजिक शोषण व अन्याय का था। ब्राह्मण वर्ग अपनी नैतिकता को त्यागकर भी श्रेष्ठ बना हुआ था। वह जन्म के आधार पर श्रेष्ठता-निम्नता के हामी नहीं थे, बल्कि कर्म के सिद्धान्तों के अनुयायी थे। तथाकथित जन्मजात मानसिकता पर उन्होंने इस प्रकार प्रहार कर समाज सुधार के पथ को संकट मुक्त किया।

ऊंचे कुल का जनमिया, करनी ऊंच न होई।
सुबरन कलस सुरा भरा, साधू निन्दै सोई॥

कबीर का ब्राह्मण ब्रह्म का ज्ञाता व नैतिकता, सदाचारों से परिपूर्ण है। वह जन्मना के आधार पर नहीं, कर्मणा के आधार पर ब्राह्मण के अस्तित्व को स्वीकारते हैं -

कहु कबीर जो ब्रह्म विचारै, सो ब्राह्मण कहियत है हमारै।

--- --- --- --- ---

हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूर, तुम कैसे बामन पांडे हम कैसे सूद।

अहिंसा का संदेश - कबीर ने हिंसावृत्ति त्यागने व अहिंसा का सन्देश दिया। उनका मानना था कि जीव मात्र की हत्या से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह अमानवीयता है और इसे बर्दाश्त नहीं किया जाना चाहिए। यह हिंसा हिन्दू-मुसलमानों में व्यापक रूप से व्याप्त थी। इसी प्रकार उन्होंने पशु बलि (कुर्बानी) की निंदा की -

दिन में रोजा रखत हैं, रात हनत हैं गाय।
वह तो खून यहु बन्दिगी, कैसी खुशी खुदाय।

गौ - हत्या को उन्होंने मातृ-हत्या की संज्ञा दी है -

काफिल गरब करें अधिकाई, स्वारथ अरथि बंधे ए गाई।
जाकौ दूध धाई करि पीवै, ता माता कौ बध क्यूं कीजै॥

मूर्ति पूजा का खण्डन - उस युग में मूर्ति पूजा अपनी सार्थकता खो चुकी थी। आक्रामक मुस्लिमों ने सबके सामने ही मूर्तियों का भंजन किया, लेकिन ईश्वर रूपी यह मूर्तियां चुपचाप अपना मृत्यु का वरण करती रहीं। मूर्ति पूजा के नाम पर पंडितों, पुजारियों ने आम जनता को अपने शोषण का शिकार बना लिया था। कबीर की मूर्ति पूजा विरोधी अवधारणा सैद्धान्तिकता से परे व्यावहारिक थी। उन्होंने सरल शब्दों में इसकी अनुपयोगिता पर प्रकाश डाला -

दुनिया ऐसी बाबरी, पाथर पूजन जाइ।
घर की चकिया कोई न पूजै जैही का पीसा खाइ॥

अवतारवाद और पुस्तकीय ज्ञान का खण्डन - कबीरदास ने अवतारवाद व पुस्तकीय ज्ञान का प्रभावी रूप से खण्डन कर उसे दिशाभ्रमित करने वाला बताया। उनका मानना था कि पुस्तकीय ज्ञान से परे प्रेम की भाषा ही हमारे कल्याण का पथ प्रशस्त करती है। पुस्तकीय ज्ञान से ही मनुष्य विद्वान नहीं हो जाता -

पौथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥

अवतारवाद का भी उन्होंने इस प्रकार विरोध किया -

तुम जो कहत हो नन्द को नन्द, नन्द सुनंदन का कोरे।
धरनि अकास दसौंदिसि नाहीं, तब इहु नन्द कहा थोरे॥

आर्थिक समता का प्रतिपादन - कबीर ने आर्थिक समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वह मानते थे कि निर्धन को कदम कदम पर धनवानों का अपमान सहना पड़ता है व उसका आर्थिक शोषण होता है। उस युग की आर्थिक विषमता का सजीव चित्रण कर उन्होंने युग चेतना के प्रहरी के दायित्व का सजगता के साथ निर्वाह किया -

निर्धन आदर कोइ न देई, लाख जतन करे औहु चिन्त न धरेई।
कहैं कबीर निर्धन है सोई, जाकें हिरदै नाम न होई।

अत: कबीर की कविता मुखापेक्षी बात न होकर स्पष्ट कंठ से की गयी धार्मिक और सामाजिक विवेचना थी। वह सत्यान्वेषी तथा बुद्धि विवेक निर्णय के पक्षधर थे। वह अन्य कवियों

की भांति कल्पना लोक में मात्र विचरण नहीं करते थे, वरन् कोटि-कोटि जनता जो पाखण्ड व ऊंच-नीच व शोषित का जीवन जी रही थी, उसे सामाजिक समता का पथ दिखाया।

इस प्रकार कबीर प्रकृति से क्रान्तिकारी, स्वभाव से समाज-सुधारक व अनुभूति से कवि थे। उन्होंने अपने काव्य में अपने व्यक्तित्व व कृतित्व को आत्मसात कर काव्य सृजन किया। निःसन्देह उनका समाज सुधारक स्वरूप उनके कवि को महानता के शिखर पर आरूढ़ करता है। इनका सम्पूर्ण जीवन पीड़ित मानवता के दुख दर्द को व्यक्त करने में व्यतीत हुआ। कबीर पीड़ितों की वाणी थे, इसीलिए उनके काव्य में मुखरता, खरापन व विचारों की प्रखरता है।

कबीर की भाषा शैली

कबीर की भाषा के निर्णय का प्रश्न पर्याप्त विवादास्पद रहा है। इसका कारण कबीर के प्रामाणिक काव्य का संग्रह अभाव ही है। अलग-अलग विद्वानों ने कबीर की भाषा के सम्बन्ध में इसी कारण अपने-अपने मन से निर्णय दिया है। किसी ने उसे अवधी, किसी ने भोजपुरी, किसी ने सधुक्कड़ी, किसी ने राजस्थानी तथा किसी ने अनेक भाषाओं के मेल से बनी पंचमेल खिचड़ी और किसी ने ब्रजभाषा कहा है। त्यों कबीर ने इस विवाद को यह कहकर और बढ़ावा दिया है।

बोली हमारी पूरवी, हमें लखै नहिं कोय।
हम को तो सोई लखै, धुर पूरब को होय॥

भाषा विषयक विभिन्न मत

कबीर की भाषा के सम्बन्ध में विभिन्न मत जो विद्वानों ने व्यक्त किये हैं, ये हैं।

1. *'उसकी (साखी की) भाषा सधुक्कड़ी है अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रणैणी" और 'सबद' में काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।* — **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**

2. *'कबीर की बोली पूरबी ही अधिक होनी चाहिए क्योंकि उन्होंने कहा भी है, किन्तु डा. रामकुमार वर्मा ने अपने इस मत में सुधार किया और हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में यह लिखा है - 'कबीर ने अपनी भाषा पूरबी लिखी है, परन्तु नागरी प्रचारिणी सभा ने कबीर ग्रन्थावली का जो प्रमाणिक संस्करण प्रकाशित किया है, उसमें पूरबीपन किसी प्रकार भी नहीं है।"* — **डा. रामकुमार वर्मा**

3. *'कबीर की भाषा पंचमेल खिचड़ी है।'*— **डा. श्यामसुन्दर दास**

मिश्रित भाषा - उपर्युक्त विद्वानों के मतों को देखने से पता चलता है कि कबीर की भाषा में किसी भी एक भाषा को महत्व नहीं मिला है। उसमें अनेक भाषाओं का मिश्रण है। उसमें एक और तो अंषलियां, जीभाड़ियां-कसाइयां, दुखढ़ियां और रातड़ियां जैसे पंजाबी शब्दों का प्रयोग मिलता है दूसरी और विसूरणां, रोवण, सजणां, जांणि, छांणि, सताणी व रैणा आदि राजस्थानी बोली के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इसी प्रकार कबीर की भाषा में लैटयो, घेटयौ, पकरयौ, चल्यौ आदि प्रयोग ब्रजभाषा के मिलते हैं। इसके साथ ही कहीं जाऊंगा, आऊंगा, लागा, भागा, मिलाऊंगा, चित लाऊँगा, धागा टूटा आदि शुद्ध खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। अवधी के प्रयोगों से भी कबीर की भाषा अछूती भाषा की धरोहर है। इतना ही नहीं पीर, मुरीद, काजी, दरवेश, मुल्ला, कुरान, खुदाई, खालिक, दरोगा, हाजिरां, अकलि, अलह, पाक और नापाक आदि अरबी, फारसी के शब्द भी कबीर में पूरी तरह मिलते हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं और बोलियों का मिश्रण है। इसी से डा. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना का यह मत ठीक ही प्रतीत

होता है कि कबीर की भाषा में बंगला, बिहारी मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज खड़ी बोली, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, सिन्धी, लंहदा, अरबी-फारसी आदि सभी बोलियों को चढ़ाकर पकाया हुआ 'सधुक्कड़ - अन्नकूट' विद्यमान है। वह सर्वत्र स्वतन्त्र है। उसमें लिंग, वचन, कारक आदि किसी प्रकार का बन्धन नहीं है और न उसके शब्दों को छील-छीलकर या किसी एक भाषा के सांचे में ढालकर ही सुन्दर सुडौल बनाया गया है।

कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं के मिश्रण के कारण निम्न हैं -

1. *कबीर घुमक्कड़ी वृत्ति के संत थे।*
2. *घुमक्कड़ी वृत्ति के कारण ही स्थान-स्थान पर जाने वाले कबीर अपने प्रवचनों और दृष्टिकोण की संप्रेषणीयता के लिए वहीं की भाषा को अपना लेते थे।*
3. *कबीर की वाणी वह वाणी है जिसे हरेक धर्मावलम्बी, हरेक भाषा का जानकार अपना सकता हैं। यही कबीर चाहते भी थे। अत: उनकी भाषा में विविध भाषाओं का मिश्रण मिलता है।*
4. *समय, स्थान और अधिकारी पात्र के अनुकूल बोलने के कारण कबीर की भाषा में विविधता के दर्शन होते हैं।*
5. *कबीर की भाषा में विविध भाषाओं की शब्दावली के मिश्रण का एक कारण यह भी हो सकता है कि वे भाषा को 'संस्करित जैसे कूपजल' से निकाल कर बहुत नीर की तरह प्रचारित करना चाहते थे। एक शब्द में वे जनता के सामने एक लोक भाषा का प्रचार करना चाहते थे।*
6. *कबीर के शिष्य विभिन्न स्थानों और प्रदेशों में फैले हुए थे। अत: यों भी भाषा मिश्रण सम्भव था।*

यही कारण है जिनकी वजह से कबीर की वाणी में भाषागत एकरूपता नहीं मिलती है। इतने पर भी यह स्पष्ट ही है कि कबीर की भाषा में सादगी और सरलता है। वह सहज विश्वसनीय भाषा है जिसमें आडंबरहीनता और अनअलंकृति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की सांकेतिक और प्रतीकात्मक वर्णन प्रणाली को देखकर उनकी भाषा की गणना 'सांध्य भाषा' की परम्परा में की है, किन्तु इसके ठीक विपरीत डा. सरनाम सिंह शर्मा का मत है कि 'कबीर की भाषा के प्रवर्तकों (सिद्धों) का जो लक्ष्य था, उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था, जबकि पहले लोग भोली-भाली जनता को भ्रान्ति में डालना चाहते थे, कबीर उसे शान्ति के पथ पर ले जाना चाहते थे। सिद्धों की भाषा गुमराह करने वाली थी और कबीर की भाषा राह दिखाने वाली थी।' वस्तुत: कबीर की भाषा एक सहज प्रवाहशील भाषा है जो ऊबड़-खाबड़ रास्तों में भी अपनी राह बनाती हुई निरन्तर आगे बढ़ती गई है।

भाषा की विशेषताएं

कबीर की भाषा में विविध भाषाओं के शब्दों का संयोजन देखकर उसकी कतिपय सामान्य विशेषताएं निरूपित की जा सकती हैं। डा. गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर ग्रन्थावली और 'संत कबीर' नामक कबीर के दो संग्रहों के आधार पर कबीर की भाषा की निम्नांकित प्रवृत्तियां बतलाई हैं -

1. *कबीर की भाषा में पंजाबीपन अधिक है। इसका कारण हज्ज करने जाते समय उन्हें पंजाब से गुजरना पड़ा था। इसी से उसमें पंजाबीपन आ गया है।*
2. *कबीर की भाषा में भोजपुरी का भी पुट मिलता है। डा. रामकुमार वर्मा ने कबीर की भाषा में पाई जाने वाली संज्ञा के लध्वन्त और दीर्घान्त दोनों रूपों के बहुत से उदाहरण उद्धृत किये हैं। यथा खंभवा, पहराना, मानवा, खटलवा। इतना ही नहीं उन्होंने भोजपुरी*

के अतीत काल की क्रिया के 'अल' या 'अले' प्रत्यय के भी अनेक उदाहरण दिये हैं-

1. जुलहै तनि बुनि पार न पावल।

2. त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल।

3. *पंजाबी और भोजपुरी के अतिरिक्त कबीर की ऐसी अनेक उक्तियां हैं जो खड़ी बोली का सुन्दर उदाहरण कही जा सकती हैं -*

भारी कहूं तो बहु डरूं, हल्का कहूं तो झूठ॥
मैं का जानों राम कूं, नैनौं कबहुं न दीठ॥

इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि 'सन्तों की खड़ी बोली की परम्परा सिद्धों से मिली है। जिस प्रकार सिद्धों के उपदेश की भाषा टकसाली हिन्दी है, उसी प्रकार सन्तों के उपदेश की भाषा खड़ी बोली है।'

4. *कबीर की भाषा की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसका रूप अधिकतर विषय, व्यक्ति और भाव के अनुकूल है। वे जब जिस तरह के व्यक्ति या मत के सम्बन्ध में अपनी राय देते थे तब तदनुकूल भाषा का ही प्रयोग करते थे यही कारण है कि हिन्दुओं, पण्डितों और वैष्णवों को सम्बोधित करते समय उनकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती थी। यथा -*

निरवैरी निहकामता, साई सेती नेह।
विषिया सूंन्यारा रहै, सतनि का अग एह॥

उधर मुलमानों को समझाते समय उनकी भाषा में उर्दूपन अधिक आ जाता था। उदाहरणार्थ ये पंक्तियां देखिये -

मीयां तुम्हसी बोल्यों वाणी नहिं आव।
हम मसकीन खुदाई बन्दे, तुम्हारा जस मनि भावै॥
अल्लाह अवलि दीन का साहिब जारे नहिं फरमाया॥
मुरसिद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहां थै आया॥

5. *कबीर की भाषा में विविध प्रान्तीय भाषाओं का मिश्रण है। बंगला, मैथिली, राजस्थानी आदि सभी प्रान्तों की प्रभावात्मक शब्दावली कबीर की वाणी में है।*

6. *कबीर की भाषा सीधी, सरल और सादी होकर भी संकेतात्मक, प्रतीकात्मक व पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के कारण दुरूह हो गई है, किन्तु उसका पारिभाषिक शब्द का अर्थ अमल में आते ही वह सरल और सहज ग्राह्य प्रतीत होती है।*

7. *कबीर की भाषा में अधिकांश शब्दों के विकृत रूप प्रयुक्त हुए हैं। अत: अनेक बार उनके वास्तविक स्वरूप का पता लगाना कठिन हो जाता है। निम्नांकित पद में शब्दों की तोड़-मरोड़ एवं विकृति देखी जा सकती है -*

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, ना परि परेसानी मांहि।
महल माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूं नाहिं॥
पीरां मुरीदां कजियां, मुलो अरू दरवेश।
कहां थे तुम किनि कीये अकलि है सब नेस॥
कुरानां कतेबां अस पढ़ि-पढ़ि फिकरी या नहीं जाई।
टुक दुम करारी जै करै, हाजिरां सूर खुदाई॥

निष्कर्ष - निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं का मिश्रण है। वह एक व्यावहारिक भाषा है। उसमें तीखी भाव-व्यंजना, मार्मिकता और प्रेषणीयता तो है ही, अव्यवस्थित होकर भी वह गतिशील है। उसमें विषयानुकूलता और प्रसंगानुकूलता को विशेष महत्व प्राप्त है। कबीर की भाषा में अनेक शैलियों का विधान है। अत: वह अत्यन्त शक्तिशाली हो गई है। इन्हीं सब कारणों से कबीर को आचार्य द्विवेदी ने भाषा का 'डिक्टेटर' कहा है। यह ठीक भी है क्योंकि वह मर्म प्रहारक शब्दावली से युक्त है, व्यंग्यात्मकता के कारण उसमें एक गति है, उसमें स्वेच्छानुकूल अभिव्यक्ति का अपूर्व गुण है। कबीर की भाषा ओजस्विता और तेजस्विता से पूर्ण है। उसमें उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ-सौष्ठव पूर्णत: देखा जा सकता है।

भक्ति का महत्व

कबीर का कथन है कि माया के पास में पड़े हुए जीव का उद्धार केवल भगवद् भक्ति से ही हो सकता है। भक्ति के बिना माया जनित संशय का दु:ख दूर नहीं हो सकता और न मुक्ति ही मिल सकती है।

"भाव भगति बिसवान बिन, कटै न संसै मूल।
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नहीं रे भूल।

भाव- भगति के बिना भव- सागर से पार जाना असम्भव है :

'जब लगि भाव- भगति नहीं करिहौं।
तब लग भौ सागर क्यों तरिहौं॥"

कबीर भाव भगति को कर्म, योग और ज्ञान से श्रेष्ठ मानते हैं। उनके विचार से हरि- दर्शन ही एक मात्र महत्वपूर्ण है। राम का जप न करने वाले टेढ़े- मेढ़े चलते हैं। बहुत से ज्ञानी राम-भक्ति न करने से डूब गये :

"कहे कबीर जिहि राम न चेत्यो बूढ़े बहुत सयाने।"

और भी - **"क्या जप था क्या संजम, क्या व्रत क्या अस्नान।**
जब लग मुक्ति न जानिए, भाव- भगति भगवान।"

कबीर में भक्ति के सभी रूप

कबीर में नवधा- भक्ति और नारदीय- भक्ति के समस्त रूप मिलते हैं। 'नारद सूत्र' में भक्ति के ग्यारह रूप माने गये हैं। नारद को वैसे कबीर ने भक्ति शिरोमणि कहा है, किन्तु कबीर की भाव-भक्ति प्रणाली इससे भिन्न है।

कबीर में नवद्या भक्ति का रूप-

श्रवण "सती पुकारे सति चढ़ों, सुनि रे मीत मसान।
लोग बटाऊ चलि गये, हम तुम रहे मसान।"

कीर्तन "ज्यों- ज्यों हरि गुन सांभल, त्यों- त्यों लागे तीर।"

स्मरण "मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।"

बन्दर "जब मन राम का ही हो गया, तो सीस किसे नवाऊं।"

पद सेवन "मन के मोहन बीठुला, यह मन लागी तोहि।
चरन कंवल मन मानियां, और न भावै सोहि।"

अर्चना "मांहै पाती मांहि जल, मांहै पूजनहार।"

दास्य "गले राम की जेबड़ी, जित खैंचे तित जाऊं।"

सरल "अंक भरे भरि भेटियां, मन में नांही धीर।
कहै कबीर ते क्यूं मिले, जब लग दोइ सरीर।"

आत्म- निवेदन -

इस दशा में अभेद् भाव की स्थिति बनी रहने के कारण सुध- बुध भूल जाती है। ऐसी रसानुभूति की स्थिति आ जाती है कि :

"भलि भई जु भै पड़या, गई दसा सब भूल।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूल॥"

बूंद समुद्र में विलीन हो जाती है और फिर न उसका और न उसके ढूंढने वाले का ही पता लगता है और अन्त में मन ही मन यही कहना पड़ता है :

"मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सोंपता, क्या लागै है मोर॥"

नारद- सूक्त में वर्णित ग्यारह आसक्तियां -

कबीर में नारद- सूक्त में वर्णित ग्यारह आसक्तियों के उदाहरण मिल जाते हैं। प्रत्येक के उदाहरण निम्नलिखित हैं :

गुण महात्म्यसक्ति- "निरमल राम नाम गुन गावै, सो मगता मेरे मन भावै।"

रूपासक्ति- "कन्द्रप कोटि जाके लावन धरै। घट- घट भीतर मनसा हरै॥"

पूजासक्ति - "जो पूजा हरि नाहि भावै, सा पूजन हार चढ़ावै।
जेहि पूजा हरि मन भावै, सो पूजन हार न जावै॥"

स्मरणसक्ति- "भगति- भजन हरि नांव है, दूजा दुःख अपार।
मनसा, बाचा, कर्मणा, कबीर सुमिरण सार॥"

दास्यासक्ति- "जो सुख प्रभु गोविन्द की सेवा।
सो सुख राज ना लहियै॥"

कान्ता सक्ति- "हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया।"

वात्सल्यासक्ति- "हरि जननी मैं बालक तोरा।"

तन्मयासक्ति- "कह कबीर हरि दरस दिखावौ।
हमहि बुलावौ कै तुम आवौ।"

पूर्ण विरहासक्ति- "बाल्हा आव हमारे गेह रे।
तुम गिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोको इहै सन्देह रे॥
एक मन है सेज न सौवे, तब लग कैसा नेह रे॥"

आत्म- निवेदनासक्ति- "माधो मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हेत नहीं साधी।
कारन कबन आइ जग जनम्यो, जननि कबन सचु पायो।।"

कबीर ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए सगुणोपासक-

कबीर निर्गुण- निराकार के उपासक थे, परन्तु निर्गुण- निराकार का केवल ध्यान ही किया जा सकता है। न तो उसमें प्रेम किया जा सकता है और न सेवा ही की जा सकती है। इसलिए कबीर को भी विवश होकर ब्रह्म के व्यक्त या सगुण रूप को अपनाना पड़ा। कबीर ने अनेक स्थलों पर इसी सगुण- भक्ति की सेवा, उपासना की चर्चा पर कहीं- कहीं अवतारों का भी उल्लेख किया है :

"भजि नारदादि सुखदि बंदित चरन पंकट भामिनी।
और भी - **"ओहि पुरुष देवाधि देव। भगति हेत नरसिंह भेव।।"**

शरणागत की भावना-

कबीर में शरणागत की भावना पूर्ण रूप से मिलती है, जो कि भक्ति का प्राण है। कहीं वे अपने को राम का गुलाम कहते हैं और कहीं राम के चरणों की धूल कहते हैं। कबीर के इस आत्म-निवेदन में तुलसी एवं सूर की गहरी तन्मयता मिलती है :

"माधव कब करिहौ हो दाया।
का, क्रोध, अहंकार न व्यापे छूटै माया।।"

भक्ति के साधनों में कबीर ने गुरु- सेवा, भगवद् कृपा, नाम, जप, स्मरण, कीर्तनादि तथा सत्संग आदि सबको महत्व दिया है।

सूरदास

(I) भावपक्ष

सूरदास के भाव- पक्ष की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **भक्ति- भावना-** सूरदास सगुण भगवान श्रीकृष्ण के परमोपासक और अटल भक्त हैं। अपने आराध्य के प्रति महाकवि ने भक्ति दास्य, सख्य, माधुर्य, प्रेम- भाव सहित नवधा- भक्ति के विभिन्न रूपों में की है। संख्य भक्ति का एक उदाहरण देखिये-

"हमारे प्रभु औगुन चित्त न धरौ।
समदरसी है नाम तिहारो, सोई पार करौ।"

2. **दार्शनिकता-** सूरदास उच्चकोटि के दार्शनिक कवि हैं। वे निर्गुण ब्रह्म को सगुण से बढ़कर महत्व नहीं देते हैं। उनका दार्शनिक पक्ष स्पष्ट है।

3. **भावुकता-** सूरदास जी के काव्य में विविध प्रकार की भाव तरंगें उछलती हुई दिखती हैं। इसमें जीवन की विविध भावनाओं का समावेश है। बालक श्रीकृष्ण की कोमल और विशुद्ध

भावनाएं, नन्द और यशोदा की प्रेमभरी उमंग, गोपी- गोपियों सहित राधा की सरसता और मधुरता, फिर श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर सम्पूर्ण ब्रज प्रदेश की तड़पन और विवशता जैसी भाव धाराएं सूरदास ने प्रवाहित की हैं।

4. **वात्सल्य विधान** - सूरदास का वात्सल्य विधान सर्वश्रेष्ठ है। आप बलकोचित भावों और प्रक्रियाओं एवं स्वरूपों का यथार्थ स्वाभाविक तथा रोचक चित्र प्रस्तुत करने में सबसे आगे हैं। बालक श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था की क्रियाओं और स्वाभावों की रूप रेखाएं कवि ने इस प्रकार अत्यन्त प्रभावशाली रूप में वर्णन किया है। इसका एक उदाहरण देखिये -

"मैया मैं नहीं माखन खायो।

ख्याण परै ये सखा सवै मिली मेरे मुख लपटायो॥

देखि तुही छीके पर माखन, ऊंचे धारि लटकायो।

है जु कहत नान्हे कर अपने मैं कैसे धरि पायो॥"

5. **श्रृंगार विधान-** सूर ने श्रृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों के जो चित्र प्रस्तुत किए हैं वे अनूठे और बेजोड़ सिद्ध हुए हैं। संयोग श्रृंगार का एक चित्र देखिये -

'सूर स्याम देखत ही रीझै नैन- नैन मिलि परी ठगोरी।'

6. **प्रकृति चित्रण-** प्रकृति देवी का उद्दीपन चित्र सूरदास का सर्वाधिक सशक्त चित्रण है। गोपियों के साथ क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण और बाल ग्वालों के भावों और चेष्टाओं को रोचक रूप देने के लिए कवि ने प्रकृति का सहारा लिया है। गोपी- विरह प्रसंग में प्रकृति - चित्रण प्रधान होकर मार्मिक और हृदयस्पर्शी व सजीव बन गये हैं।

(II) कला- पक्ष

महाकवि सूरदास की कलागत विशेषताएं इस प्रकार से हैं -

1. **भाषा** - काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से सूरदास ने भाषा को विशिष्ट रूप दिया है। सूर की भाषा अवधी और ब्रजभाषा है। उनकी भाषा में ब्रज का माधुर्य बिखरा हुआ है। उन्होंने अपनी भाषा में तत्सम, तद्भव और विदेशी शब्दों का प्रयोग किया है। लोकोक्तियों और मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। लोकोक्ति का एक उदाहरण देखिये-

"अपने स्वास्थ्य के सब कोउ, जो छोटी।

तेई है खोटी, जाहि लगैं सोई पै जाने॥"

2. **शैली-** सूर की काव्य की सर्वाधिक विशेषता है - सजीवता, प्रौढ़ता और औजस्विता का एक रूपक देखिये -

अविगत नाति कछु कहत न आवै।

ज्यों गूंगे मीठे फलौ की रस अन्तरगत ही भावै॥

3. **अलंकार योजना** - सूर का 'सूरसागर' अलंकारों का भंडार है। कवि ने सांगरूपक का सर्वाधिक प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त 'सूर सागर' में उपमा, सन्देह, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। उत्प्रेक्षा का एक सुन्दर उदाहरण देखिये-

"शौभित कर नवनीत लिये।

घुटुरूअस चलत, रेनु तनु मंदित, मुख दधि लेप किये।

"लट लटकनि मनुवत मधुपमन, मादक मधुपि पिये।"

4. **छन्द-** सूर का काव्य गैय होने के कारण उसमें छन्दों का विशेष महत्व नहीं है तथापि सूर सागर में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है उसमें रोला, कुण्डल, राधिका, रूपमाला, हीर, सवैया, वीर, रीतिका आदि प्रमुख हैं।

संक्षेप में हम कुछ कह सकते हैं कि महाकवि सूरदास का काव्यगत सौन्दर्य निर्विवाद रूप से सर्वोपरि है। इसी का जो स्वरूप दिखाई देता है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

सूरदास के वियोग

रसिकों के मन को डुबोने वाले श्रृंगार रस की भांति सूर का विप्रलम्भ श्रृंगार वियोग का अथाह उदधि है।

"अथ के मुख पर भी तो मैंने इति का अवगुंठन देखा है।" किसी कवि के वचनानुसार वृन्दावन की रासलीला का वह महामिलन यदि वियोग की अलंध्य मरुभूमि में परिणित हो गया तो आश्चर्य ही क्या है। रासलीला में गोपियां संयोग की उस पात्रावस्था को प्राप्त हो गई थीं "जहां एक क्षण का वियोग भी असह्य होता है।" भावनाओं का जो उद्वेग संयोग- श्रृंगार में मिलता है, कहीं उससे भी अधिक वियोग- श्रृंगार में। वियोग की अन्त: और बाह्य दशायें अपने स्वाभाविक रूप में कवि की कल्पना का सहारा पाकर साकार हो उठी हैं। सूर- साहित्य में प्राय: वियोग का प्रारम्भ विप्रलम्भ वात्सल्य से होता है। कृष्ण के मथुरा गमन पर सर्वप्रथम हमें मां यशोदा विलाप करती दिखाई पड़ती हैं। कृष्ण को मथुरा छोड़कर अकेले नन्द के पुनरागमन पर हमें यशोदा की हृदय विदीर्णकारी चीत्कार सुनाई पड़ती है-

छांड़ि सनेह चले मथुरा कत दौरि न चीर गह्यौ।

फाटि न गई वज्र की छाती कत यह सूल सह्यौ।

मां यशोदा के हृदय में है घोर झुंझलाहट, खिजलाहट, उत्सुकता के साथ विरक्ति, अपने लिए तिरस्कार की भावना, जो अपने लाल की रक्षा भी नहीं कर सकती, उसके पति का महर पद व्यर्थ सिद्ध होता है-

नन्द ब्रज लीजे ठोकि बजाय।

देह विदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहं त्रिभुवन के राय।

ठोकि बजाय में यशोदा नन्द के सम्पत्ति और अधिकार लोलुपता को ललकारती हैं। वे नंगी- भूखी भी कृष्ण के पास जाकर रहना चाहती हैं, नन्द अपनी जागीर संभालें। यशोदा के ही मन में पीर नहीं है, नन्द को भी उनकी कठोरतायें याद आती हैं। संयोगावस्था में जिन बातों को देखकर सुख मिलता था अब वही प्राणों को कचोट रही हैं। वे कहते हैं -

तब तू मारबोई करति।

रिसनि आगे कहे न आवति, अबलै भाड़े भरति।

रोसकै कर दांवरी लै फिरति घर- घर धरति।

कठिन हिए करि तब जौ बांध्यो, अब वृथा दुख करति।

यह झुंझलाहट कृष्ण के विषय में वियोग के ही कारण उत्पन्न हुई है, उसकी अपनी स्वाभाविकता है।

गोपियां विरहाग्नि में जल रही हैं, उनके मन में कन्हैया की बातों को लेकर एक शूल उठता है।

मेरे मन इतनी सूल रही।

ते बतियां छतियां लिखि राखी जे नन्दलाल कही।

ताहि देखि मैं मान किये सखि सो हरि गुसा गही।

सोचति अति पछिताति राधिका मूर्छित धरनि ढही।

अज्ञानावस्था में जन्म के साथ मृत्यु, इस क्षण- क्षण की मृत्यु से कितनी अधिक सुखदायी होती है, यह गोपिकायें ही कह सकती हैं।

गोपियों की नेत्र वर्षा से तो घन भी हार गये हैं -

सखि इन नैनन के घन हारे।

बिनु ही ऋतु बरसत निसि बासर सदा मलिन दोऊ तारे।

प्रकृति में एक वर्ष में पावस कुछ माह के भीतर आती है, किन्तु गोपियों के नेत्रों पर तो हर समय छाई रहती है-

निस दिन बरसत नैन हमारे।

सदा रहति पावस ऋतु इन पर जब से स्याम सिधारे।

कृष्ण के संयोग का साथी मधुवन आज गोपियों को काट रहा है, उसकी हरीतिमा उसके लिए स्मृति का वृश्चिक दंश बन गई है। आज उनके उजाड़ नीरस जीवन से इसका कोई तारतम्य नहीं है, अत: वे चाहती हैं कि वह भी सूख जाय-

मधुवन तुम कत रहत हरे।

विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे।

तुम हो निलज लाज नहिं तुमकौं फिर सिर पुहुप धरे।

ससा स्यार् औ वन के पखेरु धिक्- धिक् सबनि करे।

कौन काज ठाड़े रहे बन में काहे न उकठि परे।

काली अंधेरी रातें जिनका संयोगावस्था में कभी ज्ञान भी नहीं होता था, अब नागिन बनकर डसने लगी हैं। सांपिन पीठ पर काली तथा पेट की ओर श्वेत होती है। काटकर नागिन का तुरन्त पलट जाना भी प्रसिद्ध है। काली रात भी अंतिम प्रहरों में या कभी- कभी बादल हट जाने पर चांदनी निकल जाने पर श्वेत दिखाई पड़ती है। गोपियां उसका नागिन का उलट जाना मानती हैं -

पिया बिनु सौंपिन कारी रात।

कबहुंक जामिनि होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात।

जिस प्रकार सूर के संयोग श्रृंगार में बिहार- स्थली असीम है, उसका ओर- छोर निकलता है जाकर यमुना के हरे- भरे कछारों में, करील के कुंजों और वनस्थलियों में, उसी प्रकार विरह- वर्णन भी 'वैरिन भई रतियां और सांपिन भई सिजिया तक सीमित न रहकर प्रकृति के प्रांगण में उन्मुक्त बिहार करता है। वे कृष्ण का-

एक वन ढूंढि सकल वन ढूंढौ कबहुं न स्याम लहौं।

जो प्राकृतिक पदार्थ गोपिकाओं के हृदय में विरह- वेदना उत्पन्न करते हैं, वे कृष्ण के मन प्राण में कोई अनुभूति नहीं भरते, तब गोपियां सहज ही कह उठती हैं - ये सारे उपकरण उधर जाते ही नहीं, जो कृष्ण इन्हें देखें और दुखित हों। ये तो इधर ही छाये रहते हैं -

मानौ माई सबनि इतै ही भावत।

अब बहि देस नन्द नन्दन को कोउ न समौ जनावत।

पावस विविध वरन वर बादर उठि नहिं अम्बर छावस।

चातक मोर चकोर शोर कर दामिन रूप दुरावत।

पावस की घन- घटाओं का वियोगिनी गोपिकायें भीषण रूप में अवलोकन करती हैं। वे ऐसा अनुभव करती हैं मानो कृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण बादलों ने उनके ऊपर चढ़ाई कर दी है -

देखियत चहुं दिसि तै घनघोरे।

मानों मत्त मदन के हथियन बलकरि बन्धन तोरे।

कारे तन अति चुवत गण्ड मद बरसत थोरे थोरे।

रुकत न पवन महावत है पै मुरत न अंकुस मोरे।

गोपियां बादलों को कभी मत्त हाथियों के रूप में देखती हैं तो कभी अपने प्रियतम कृष्ण की अनुहारि देखती हैं -

आजु घनस्याम की अनुहारि।

उनै आए सांवरे ते सजनि देखि रूप की आरि।

इन्द्र धनुष मनो नवल बसन छवि दामिन दसन विचारि।

जनु बग- पांति माल मोतिन को चितवहिं पाइ निहारि।

भ्रमरगीत में विरह की परिणति होती है। वह तो सभी स्थितियों की रंगस्थली है। कहीं आत्म समाधान, कहीं 'ऊधो लहनो अपना ही पायो' में भाग्यवाद आदि सभी कुछ दिखाई पड़ता है।

शुक्ल जी ने गोपियों के वियोग पर अस्वाभाविकता का प्रश्न- चिन्ह लगाया है, पर वह असमीचीन है, क्योंकि गोपियों की भी अपनी मर्यादा है। आर्यपथ की वे पथिक हैं। राधा के बन्धन और घैरु की बात कही गई है। राधा को अपयश के भय से उनकी मां उसे कृष्ण के साथ जाने से रोकती हैं- उनका प्रणय व्यापार कलंक की वायु पर तैरने लगा है-

कहा कहौं सुन्दर घन तौसौं।

घैरा यहै चलावत घर- घर श्रवण सुनत जिय सोसौं।

पर मन ही मन राधा प्रार्थिनी है कि-

राधा विनय करति मन ही मनं सुनहु स्याम अन्तर के जामी।

माता पिता कुल कानिहि मानत तुमहिं न जानत हैं जग स्वामी।

कृष्ण भी मर्यादाहीन जीवन के पक्षपाती नहीं थे। तभी तो गोपियों को प्रात: होने से पूर्व ही घर विदा कर देते थे। प्रीति के स्पष्टीकरण में गोपियों के आगे लोक लज्जा की दीवार आती है, वे उद्धव से अपने प्यार को गुप्त रखने की प्रार्थना करती हैं -

गुपुत मते की बात कहौ जनि कहुं काहू के आगे।

कै हम जान कै तुम ऊधो इतनी पावैं मांगे।

गोपियां वियोगिनी हैं, सीता के समान ही उनके अन्तस में भी एक कसक है, एक टीस है, पर भेद इतना है कि वे परकीया हैं। परकीया नायिका होने के नाते गोपियां प्रत्यक्ष रूप से अपनी प्रीति का दावा नहीं कर सकतीं। प्रियतम का क्षणिक संयोग उनके लिए सौभाग्य की वस्तु के साथ अलभ्य है। यह बड़ी बाधाओं के बाद प्राप्त हुआ है, इसमें प्रियतम का क्षणिक वियोग उनके लिए जीवन का सबसे बड़ा संकट है। राक्षसों से घिरे हुए लंका- निवास की अवधि में सीता राम के प्रेम-कवच से आरक्षित तथा स्वकीयात्व की भावना से आश्वस्त थीं, पर गोपियों को यह विश्वास कभी मिला ही नहीं। संयोग में दर्शन लाभ संभाव्य था, वियोगावस्था में वह भी समूल नष्ट हो गया। गोपियों का वियोग स्वाभाविक होने के साथ ही साथ वह अथाह समुद्र है, जिसमें उद्धव जैसे ज्ञानी भी थाह नहीं पा सके।

सूरदास ने वात्सल्य का जैसा सजीव, आकर्षक और हृदयस्पर्शी वर्णन किया है वैसा हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। कवि बालक की क्रियाओं का जैसा सूक्ष्म अंकन करता है वह देखते ही बनता है।

कृष्ण के जन्म से माता- पिता के हृदय में आनन्द का समुद्र उमड़ने लगता है। सम्पूर्ण ब्रज नन्द के दरवाजे पर दौड़ पड़ता है। आखिर नन्द और यशोदा की मनोकामना चिरकाल के बाद पूरी हुई है। नवजात बालक को पालने की जरूरत है। यशोदा तो रंगबिरंगा पालना चाहती है। वह बढ़ई को स्वयं आदेशित करती हैं -

"पालनौ अति सुन्दर गढ़ि ल्याऊ रे बढ़ैया।

सीतन चन्दन कटाउ, घरि खराद रंग लाऊ,

विविध चौकी बनाऊ धार रे बनैया॥"

'घाउरे' शब्द में मां का उतावलापन दर्शनीय है।

बालक तो माता- पिता का प्यारा खिलौना होता है। कृष्ण का तो कहना ही क्या? वे तो माता-पिता के सर्वस्व हैं। मां के हृदय में बालक के लिए कितनी अभिलाषायें हैं। हर मां चाहती है कि उसका प्यारा बेटा जल्दी चलने लगे, मां यशोदा भी कृष्ण को चलना सिखाती हैं-

सिखवत चलन यशौदा मैया।

और भी - **कबहुंक सुन्दर बदन बिलोकति, उर आनन्द भरि लेत बलैया।**

कबहुंक बलि को टेरि बुलावति, इहि आंगन खेलो दोऊ भैया।"

बालक कृष्ण धीरे- धीरे बड़े होने लगते हैं। बच्चा घर में बन्द नहीं रह सकता। वह बाहर खेलने जाना चाहता है। लेकिन मां उसे स्वयं से दूर कैसे जाने दे ? यदि उसे कुछ हो गया तो, अत: वह उसे 'हाऊ' का भय दिखाती है-

"दूरि खेलन कत जात कान्हा॥

आज सुन्यो है हाऊ आयौ तुम नहिं जानत नान्हा॥

इक सरिका अवही भजि आयी, रोवत देख्यो ताहि।

कान तोरि वह लेत सबनि के, लरिका जानत जाहि।

सूरदास ने बाल क्रीड़ाओं के अनेक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। कृष्ण देखते हैं कि उनके अन्य सखा गायें चराने जाते हैं तब वह कैसे इस कार्य से वंचित रह जायें-

"मैं अपनी सब गाय चरैहौं।

प्रात होत बल के संग जैहों, तेरे कहे न रैहों।

ग्वाल बाल गाइन के भीतर डर नहिं लागत।

आज न सौवों नन्द दुहाई, रैनि रहौंगौं, जागत॥"

संयोग वात्सल्य ही नहीं वियोग वात्सल्य को भी सूर ने उच्चता के शिखर पर पहुंचाया है। सच तो यह है कि सूर का संयोग वात्सल्य वियोग की भूमिका मात्र है। कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं। मां यशोदा धाड़ मार- मार कर चिल्लाने लगती है-

"यशोदा बार- बार यौं भाखै।

है कोऊ ब्रज में हितू हमारौ,

चलत गोपालाहि राखै॥"

नन्द कृष्ण को लेने मथुरा जाते हैं लेकिन उधर से जब अकेले लौटते हैं तो यशोदा तो पागल हो जाती है। वह पुत्र प्रेम में लौकिक व्यवहार को भूल जाती है। अपने पति नन्द को न जाने क्या- क्या कहने लगती है-

"यशोदा कान्ह- कान्ह कै बूझै।

फूटि न गई तिहारी चारौं, कैसे मारग सूझै॥

और भी - **सूर स्याम बिझूरन की हम पै, दैन बधाई आये॥"**

पुत्र वियोग में मां की स्थिति बड़ी विचित्र हो जाती है। वे नन्द को उलाहने देने में नहीं चूकतीं। वे नन्द पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं -

"सराहौ तेरो नन्द हियौ।

मौहन सो सुत छाड़ि मधुपुरी, गोकुल आनि जियो॥

कहा कहौं मेरे लाल लड़ैते, जब तू बिदा कियौ।

जीवन प्राण हमारे ब्रज को, वसुदेव छीन लियौ॥"

सूर के वात्सल्य के सम्बन्ध में डॉ. चन्द्रभान रावत ने लिखा है, "सूर का वात्सल्य वर्णन अत्यन्त मौलिक है। यह चित्रण इतना क्रमिक और पूर्ण है कि कोई कड़ी लुप्त नहीं है।..... इसका प्रवाह निर्वाह है। समस्त लीला का विस्तार नितांत मानवीय है।"

सूरदास के श्रृंगार

आचार्यों ने श्रृंगार के दो पक्ष स्वीकार किये हैं- संयोग श्रृंगार और वियोग श्रृंगार। सूरदास ने अपने काव्य में श्रृंगार के दोनों पक्षों का उद्घाटन बड़ी कुशलता से किया है। उन्होंने श्रृंगार को भक्ति रस से परिपुष्ट बनाया है।

(I) संयोग श्रृंगार

सूर के संयोग श्रृंगार के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं - "सूर संयोग वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है, प्रेम संगीत में जीवन एक चलती गहरी धारा है, जिसमें अवगाहन करने वाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कुछ दिखलाई नहीं पड़ता है।"

सूर के संयोग श्रृंगार के आलम्बन राधा और कृष्ण हैं। राधा और कृष्ण का प्रथम मिलन कवि ने बड़े ही नाटकीय तरीके से कराया है। कृष्ण राधा को देखते हैं और राधा कृष्ण को और फिर दोनों के नेत्र मिल जाते हैं -

"खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बांधे, हाथ लिए भौंरा चक डोरी॥
और भी - **औचक ही देखी तहं राधा, नैंन विशाल भाल दिये रोरी॥**
और भी - **सूर स्याम देखते ही रीझै, नैन नैन मिल परी ठगौरी॥"**

कृष्ण बहुत चतुर और छलिया हैं, वह राधा के सहज और भोले सौन्दर्य को देखकर उसे फुसलाने का प्रयास करते हैं -

"बूझत स्याम कौन तूं गोरी।
कहां रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूं ब्रज खोरि॥
काहे को कम ब्रज तन आवत, खेलत रहत अपनी पौरी।
श्रवनन सुनत रहत नन्द ढोटा, करत रहत दधि माखन चोरी॥
तुम्हारो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलहु संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमणि, बातन भुरई राधिका भोरी॥"

कृष्ण ने राधा को बातों में भुला दिया। राधा और कृष्ण का मिलन नित प्रति होने लगा। राधा को भी कृष्ण से मिले बिना चैन न पड़ता। दोनों के हृदयों में कसक बढ़ने लगी। राधा को कृष्ण से गाय दुहाना बहुत अच्छा लगता। कृष्ण को भी एक दिन अच्छा मजाक सूझा-

"हरि सौं धेनु दुहावती प्यारी।
करति मनोरथ पूरन मन, वृषाभानु महरि की बारी।
और भी - **दूध धार सुखै पर छवि लागति, सो उपमा अति भारी।**
मानहु चन्द कलंकहि धोवति, जहं- तहं बूंद सुधारी॥

कृष्ण द्वारा राधा के मुख पर छोड़ी दूध की धारा कितनी सुन्दर व्यतीत होती है? प्रेम का यह धागा कितना लम्बा हो गया कि कृष्ण उसके बाल भी पकड़ने लगे-

"छांड़ि देहु मेरी लट मोहन।"

ग्रीष्म लीला के अवसर पर अन्य सखियां राधा से कहती हैं कि 'तू धन्य है क्योंकि कृष्ण के निकट रहती है' पर राधा भेद नहीं देती-

"राधिका कहि अब सांची।"
और भी - **सूरदास राधिका सयानी, रूप- रासि- रस सांची।**

चीर हरण प्रसंग में कृष्ण सभी गोपियों को परेशान करते हैं। कृष्ण स्नान करती हुई गोपियों की पीठ धोखे से आकर मलने लगते हैं -

"कैसे बने जमुना न्हात।

नन्द को सुत तीर बैठों बड़ों चतुर सुआन।

हार तोरे, चीर फारैं, नैन चले चुराई।

काल्हि धौखैं कान्ह मेरो, पौठ मौंजा आइ॥"

इस वर्णन से एक बात स्पष्ट है कि सूर का संयोग श्रृंगार वासनात्मय नहीं है मूलत: वे भक्त कवि हैं और भक्ति के परिप्रेक्ष्य में ही उनके श्रृंगार का मूल्यांकन होना चाहिये।

(II) वियोग श्रृंगार

सूर के वियोग श्रृंगार का आधार साधारण और सूक्ष्म है। अक्रूर के साथ कृष्ण मथुरा चले जाते हैं और सम्पूर्ण ब्रज में कुहराम मच जाता है पर गोपियां और राधा क्या करें, जिनके जीवन का सर्वस्व ही कृष्ण है। कृष्ण जब लम्बी अवधि बीत जाने पर भी लौटकर नहीं आते तो गोपियां एक रास्तागीर से सन्देश भेजंती हैं -

"हरि परदेश बहुत दिन लाये।

कारी घटा देखि बादर की नैन भार आये॥

पालगौं तुम बीर बटाऊ, कौन देस तैं धाये।

इतनी पतियां मेरी दीजौं, जहां स्याम घन छाये॥"

और फिर बादलों की गर्जना और कृष्ण का लौटकर न आना गोपियों की स्थिति को कई गुना दुखदायी बना देता है। पर इस अवस्था में भी जब पपीहा बोलता है तो वे उसे आशीर्वाद देने लगती हैं क्योंकि वह भी तो अपने प्रिय के विरह में 'पीउ पीउ' चिल्लाता रहता है-

बहुत दिन किबौ, पीपीहा प्यारी।

बासुरी रैन नाव लै बोलत, भयो विरह जुर कारो॥"

गोपियों में निराशा का भाव तब आ जाता है जब कृष्ण के स्थान पर ऊधव का आगमन होता है और वे गोपियों को निर्गुण का सन्देश देने लगते हैं तब गोपियों पर वज्रपात हो जाता है। पर वे उनसे साफ- साफ कह देती हैं कि हम तुम्हारे निर्गुण को स्वीकार नहीं कर पायेंगी क्योंकि हमारा मन हमारे पास नहीं है। हां, यदि तुम हमारा मन लौटा दो तो हम सब बातें स्वीकार कर लेंगी-

उधौ मन नहिं हाथ हमारे।

रथ चढ़ाई हरि संग गये लै मथुरा जबहि सिधारे॥

और भी - **"आजहूं मन आपनौ हम पावै, तुमतै होय तो होय।**

सूर सपथ हमें कोटि तिहारी, कही करेंगी सोह॥"

वियोग में राधा का चित्र देखकर तो कारुणिक दृश्य उपस्थित हो जाता है। बेचारी उस साड़ी को त्यागती नहीं है जिसे कृष्ण के साथ क्रीड़ा करते समय धारण की थी -

अति मलीह ब्रज भानु कुमारी।

हरिश्रम जल अन्तर तन भीजे।

ता लालच न धुववति सारी॥"

गोपियों की निराशा का मार्मिक अंकन इन पंक्तियों में देखिये -

"नैना भये अनाथ हमारे।

मलन गोपाल वहां तैं सजनी सुनियन दुरि सिधारे।"

कृष्ण मथुरा से द्वारिका जाने के बाद सचमुच कभी नहीं आये। उस निष्ठुर ने गोपियों को जीवन भर वियोग के समुद्र में ढकेल दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर ने श्रृंगार के उभय पक्षों संयोग और वियोग का पूर्ण सफल चित्रण किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर ने हिन्दी साहित्य में श्रृंगार को रसराज के पद पर प्रतिष्ठित किया है।

भ्रमरगीत की कथा का स्वरूप

भ्रमरगीत विप्रलम्भ श्रृंगार का काव्य है। कृष्ण गोपियों से प्रेम क्रीड़ाएं करके उनको अपने वियोग में तड़पता छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। मथुरा में कंस का वध करके कृष्ण राजकाज में इतने अधिक व्यस्त हो जाते हैं कि उनको गोकुल लोटने का अवसर नहीं मिलता। वे अपने ज्ञानी मित्र उद्धव को गोकुल में माता-पिता, ग्वाल-बाल और गोपियों को सांत्वना देने के लिए भेजते हैं। गोकुल में उद्धव का गोपियों से वाद-विवाद होता है। उद्धव वाद-विवाद में हार जाते हैं और गोपियों की प्रेम भावना में निमग्न होकर मथुरा लोट आते हैं।

भ्रमरगीत का इतना संक्षिप्त और सीधा कथानक है।भागवत्कार गोपी-उद्धव-संवाद के बीच में एक भ्रमर को ला देता है। भ्रमर उड़ता हुआ आता है और एक गोपी के चरण को कमल समझकर उस पर बैठ जाता है। गोपियां उद्धव को छोड़कर उस भ्रमर के पीछे पड़ जाती हैं। वे भ्रमर को लक्ष्य करके कृष्ण और उद्धव को खरी खोटी सुनाने लगती हैं। गोपियों के समक्ष उद्धव का सारा गर्व चला जाता है। भागवत् के इस मूल कथानक के आधार पर काव्य रचना होती रही, जिसका नाम भ्रमरगीत पड़ा।

डां. सत्येन्द्र ने भ्रमरगीत के कथानक का निम्न प्रकार विश्लेषण किया है -

1. **भूमिका** - कृष्ण उद्धव को ब्रज जाने के लिए प्रेरित करते हैं और उद्धव ब्रज पहुंचते हैं।

2. **प्रस्तावना** - उद्धव अवसर पाकर गोपियों से कृष्ण का संदेश कहते हैं।

3. **विषय प्रवेश** - कहीं से उड़ता हुआ एक भ्रमर आ जाता है।

4. **मूल विषय** - गोपियां भ्रमर को - (क) सम्बोधन करके कृष्ण और उद्धव को खरी खोटी सुनाती हैं और हृदय के उद्‌गार अभिव्यक्त करती हैं। (ख) गोपियां उद्धव के ज्ञान और संदेश का खंडन करती हैं। (ग) अन्त में वे कृष्ण में तन्मय हो जाती हैं।

5. **उपसंहार** - गोपियों की प्रेम तन्मयता को देखकर उद्धव का ज्ञान-गर्व चला जाता है और उनकी प्रेम भक्ति पर आस्था हो जाती है। वे मथुरा लौटकर गोपियों की दशा का वर्णन करते हैं और कृष्ण को निष्ठुर कहते हैं।

भ्रमरगीत का उद्देश्य

डा. स्नेहलता श्रीवास्तव ने भ्रमर गीत के उद्देश्य को निश्चित करते हुए हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा में लिखा है -

ज्ञान पर प्रेम की, मस्तिष्क पर हृदय की विजय दिखाकर निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा सगुण साकार ब्रह्म की भक्ति भावना की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है।

भ्रमरगीत का मूल स्त्रोत श्रीमद भागवत् है। उक्त उद्देश्य भागवतकार का न होकर सूर एवं उनके समकालीन तथा परवर्ती कवियों का रहा है।

भ्रमरगीत सूरदास का एक अत्यन्त सरस, मधुर एवं उपालम्भ पूर्ण अंश है। सूरकृत भ्रमर गीत श्रृंखला की पहली कड़ी है। भ्रमरगीत का मुख्य आधार श्रीमदभागवत् है। तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए यह एक सौद्देश्य रचना है। इसका नाम भी बड़ा ही सार्थक एवं सहेतुक है। सर्वप्रथम भ्रमर गीत की परम्परा में सूरकृत भ्रमरगीत का क्या स्थान है का विवेचन प्रस्तुत है -

भ्रमरगीत की परम्परा में सूरकृत भ्रमरगीत का स्थान

भ्रमरगीत का प्रसंग सर्वप्रथम श्रीमद्भागवत् में देखने को मिलता है। हिन्दी में इस प्रसंग को सर्वप्रथम चित्रित करने का श्रेय महाकवि सूरदास को है पर भागवत के इस प्रसंग को अपना आधार बनाते हुए भी सूर ने इस में कुछ मौलिक परिवर्तन कर दिये हैं। भागवत में भक्ति के अपेक्षा ज्ञान की श्रेष्ठता का चित्रण किया गया है जबकि सूर ने ज्ञान पर भक्ति की विजय का वर्णन किया है। भागवत् में राधा का कहीं उल्लेख नहीं मिलता सूर ने अपने भ्रमरगीत में राधा को स्थान दिया है। इस प्रकार सूर ने भ्रमरगीत की रचना में अपनी मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया है। उद्धव की ज्ञानयोग प्रियता और गोपियों के प्रेम की अनन्यता दोनों को समान्तर रखकर ज्ञान योग पर प्रेम योग की विजय का चित्रण किया है और अपनी भक्ति भावना का भी। सूरदास ने तीन भ्रमर गीतों की रचना की है। प्रथम भ्रमरगीत तो भागवत् का ही अनुवाद सा प्रतीत होता है यह दोहे चौपाईयों में है। दूसरा भ्रमरगीत पदों में है। इसमें पदों की संख्या के नाम पर केवल एक ही पद है। तीसरे भ्रमरगीत में पदों की संख्या सूरसागर के 4078 वें पद से प्रारम्भ होकर 4710 वें पद पर समाप्त होती है। सूर का भ्रमरगीत प्रधानत: व्यंग्य काव्य है। भ्रमर के माध्यम से गोपियों ने उद्धव पर, उनके निर्गुण निराकार ईश्वर पर, इनके ज्ञान योग पर, कृष्ण पर खूब व्यंग्य कसे हैं। भ्रमर की उपमा भी सर्वथा संगत एवं समचीन है। कृष्ण और उद्धव भी काले तथा भ्रमर भी रस लोलुप्त और कृष्ण भी। वस्तुत: सूर के भ्रमरगीत में ज्ञान और भक्ति, निर्गुण और सगुण तथा हृदय और मस्तिष्क का संघर्ष है। उसमें तर्क वितर्क के लिए अधिक स्थान नहीं है। सूर भ्रमरगीत में तो हृदय पक्ष की प्रधानता है। गोपियां अपने आपको अबला और मूर्ख कहती हैं तथा निर्गुण पन्थ को बहुत ही दुरूह और दुष्कर बताती हैं। गोपियों के प्रेम की प्रगाढ़ता को देखकर उद्धव का ज्ञान गर्व मिट जाता है। गोपियों के प्रेम पथ के पथिक बन जाते हैं।

सभी भ्रमरगीतों के अवलोकन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि सूरकृत भ्रमरगीत की सी भावना की तीव्रता, संवेदना की मार्मिकता, अनुभूति की तीक्ष्णता तथा कलात्मक सौष्ठव अन्यत्र दुर्लभ है। वास्तव में भ्रमरगीत की कल्पना का मूल रूप भागवत् में उपलब्ध होते हुए भी, हिन्दी में इसे मौलिक रूप में प्रणयन करने का एक मात्र श्रेय महाकवि सूरदास को ही है। परवर्ती कवि सूर से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित होते रहते हैं। उद्धव के ज्ञान गर्व का उन्मूलन करना महाप्रभु वल्लभ द्वारा प्रचारित पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के अनुसार प्रेमभक्ति की प्रतिष्ठापना सूर की मौलिकता है। सूर ने भागवत् के संक्षिप्त प्रसंग को विस्तृत एवं व्यापक भी बना दिया। नि:संदेह सूर का भ्रमरगीत एक सर्वश्रेष्ठ उपालम्भ काव्य है तथा भ्रमरगीत परम्परा में सूर का स्थान असन्दिग्ध रूप से मूर्धन्य है।

सूरकृत भ्रमर गीत अपनी अनेक विशेषताओं के कारण भ्रमरगीत परम्परा में विशेष स्थान रखता है। यह वह प्रसंग है जिसमें कवि की सहृदयता और वाकविदग्धता दोनों को समान महत्व प्राप्त हुआ है। यह वह रत्न है जिसकी आभा के समक्ष सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य नतमस्तक है। इसकी रचना सूरदासजी ने प्रेम भावना की प्रतिष्ठा और ज्ञान के खण्डन के लिये की है। सूर के भ्रमरगीत का प्रमुख उद्धेश्य सगुण का मण्डन और निर्गुण का खंडन है।तत्कालीन पीड़ित और त्रस्त जनता के

निराश हृदय को आश्वस्त करने में निर्गुण पंथी ज्ञानमार्गी सन्त कवि तथा प्रेममार्गी सूफी सन्त कवि दोनों ही सर्वथा असम एवं अक्षम सिद्ध हुए थे। जनसाधारण अदृश्य निराकार, निर्गुण, ईश्वर की कल्पना से न सन्तुष्ट हुआ न आश्वस्त। फलत: निर्गुण का स्थान सगुण भक्ति ने ले लिया है। निर्गुण की पराजय का और सगुण की विजय उद्धव और गोपियों के माध्यम से भ्रमरगीत में सूर ने भली भांति चित्रित की है। उस युग में उत्पन्न 'ज्ञान बड़ा अथवा भक्ति' विवाद को सूर ने भ्रमरगीत में सुलझाने का प्रयास किया है। सूर ने अपना संपूर्ण कौशल, ज्ञान से बड़ी भक्ति सिद्ध करने में प्रकट किया है।

वस्तुत: भ्रमरगीत के प्रसंगानुसार उद्धव को ब्रज में भेजने का श्रीकृष्ण का उद्देश्य भी यही था। उद्धव ज्ञानोपासक थे। उनको अपने ज्ञान का अत्यधिक गर्व था। वे भगवद भक्ति और भगवद प्रेम को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। उद्धव के नीरस निर्गुणवाद के अहंकार को गोपियों के सरस सगुणवाद द्वारा उन्मूलन करने तथा ज्ञान की उपेक्षा भक्ति की गौरव महिमा को स्वीकार करने के उद्धेश्य से ही कृष्ण ने उद्धव को ब्रज में गोपियों को समझाने के लिए भेजा था। सूर ने लिखा है-

जदुपति आनि उद्धव रीति।

प्रेम भजन न नेकु जाके जाय क्यों समुझाय।

सूर प्रभु मन यह आनी ब्रजहि देहु पठाय।

सूर ने इस तथ्य का अनुभव किया था कि निर्गुण के नीरस उपदेशों से जगत का कल्याण सम्भव नहीं। जनता पर उनका प्रभाव कुछ नहीं पड़ता। जनता को तो सगुण साकार ही सहारा दे सकता है। वही उनको अपनत्व प्रदान कर सकता है। रूप, रंग, हाथ, पांव से विहीन केवल भावना प्रधान निर्गुण और निराकार जनता के लिए किस काम का। फलत: सगुण साकार ब्रह्म की स्वीकृति और निर्गुण ब्रह्म के निषेध हेतु ही भ्रमरगीत की रचना सूर ने की है। वे इसमें पर्याप्त सफल भी हुये हैं। भाषा स्वरूप भ्रमरगीत का अन्तिम अंश इसका उदाहरण है जिसमें उद्धव अपनी पराजय स्वींकार कर लेते हैं और कृष्ण से ब्रज लौट चलने का आग्रह करते हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि सूरदासजी का भ्रमरगीत काव्य कला की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही, उसमें प्रेम सौन्दर्य और भक्ति का भी अदुभुत सामंजस्य दिखाई देता है। सूरदास सच्चे अर्थों में मानव हृदय के पारखी थे, उन्होंने सम्बन्ध भावना का प्रसार दिखाकर अपने मनोवैज्ञानिक पाण्डित्य को भी प्रकट किया है। उनकी गोपियां अपनी प्रेम साधना की महत्ता और एक निष्ठा को प्रमाणित करती हुई जिस भाव को प्रकट करती हैं, वह सूर की सहृदयता का प्रमाण है। इसी प्रकार गोपियों नें उद्धव के प्रति जो व्यंग्य और तर्क प्रस्तुत किये हैं वे न केवल सूर की काव्यात्मकता के प्रतीक हैं अपितु उनकी सहृदयता और वाक्चातरी के भी स्पष्ट प्रमाण हैं।

भगवान को महान् और अपने को लघु मानकर भक्त जिस भाव की अभिव्यक्ति करता है, उसकी गणना दैव्य भाव में की जाती है। सूरदास ने अपने विनय के पदों में भगवान का महात्म्य केवल उनकी दयालुता, पतित-पावनता, सर्व समर्थता और भक्त-वत्सलता के रूप में ही चित्रित किया है तथा भक्त की लघुता उसकी आलंबनहीनता, पतितावस्था, असमर्थता और हीनता के रूप में उपस्थित की है। भक्त इनके द्वारा भगवान के निकट पहुंचना चाहता है और भगवान से अपनी रक्षा की याचना

करता है। इस रूप में भगवान भक्त की योग्यता नहीं देखते। उसकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार के कितने ही पद सूरदास ने लिखे हैं। भक्त भगवान् से कहता है-

जो हम भले बुरे तो तेरे।

तुम्हें हमारी लाज बढ़ाई विनति सुनहु प्रभु मेरे॥

सब तजि तुम सरनागत आयो, दृढ़ करि चरन गहेरे।

तुम प्रताप बल बदत न काहू निडर भये घर चेरे॥

और देव सब रंक भिखारी त्यागें बहुत अनेरे।

'सूरदास' प्रभु तुम्हारी कृपा तें पाए सुख जु घनेरे॥

भगवान से सुरक्षा पाकर भक्त निर्भय हो गया है। श्याम का 'दास'कहलाने में ही उसे गौरव का अनुभव होता है और उसे क्रीतिदास बनकर अपने स्वामी की जूठन खाने में सुख मिलता है-

हमें कंद नन्दन मोल लियो।

x x x x x x x x x x x

सब कोउ कहत गुलाम स्याम को सुनत सिरात हिये।

सूरदास कौं और बड़ो सुख, जूठन खाय जिये॥

भक्त भगवान की कृपालुता की प्रशंसा करता थकता नहीं। भगवान भक्त की रक्षा ऐसे करते हैं, जिस प्रकार गौ अपने बछड़े के पीछे-पीछे उसकी चिंता में फिरती रहती हैं-"लग्यी फिरग सुरभी ज्यों सुत सग, औषट धुनि बन कौं।" भगवान भक्त की योग्यता भी नहीं देखते। भक्त की सबसे बड़ी योग्यता उसकी अयोग्यता ही है। वे भक्त के कुल, मान जाति-कुजाति एवं मर्यादा का विचार नहीं करते। वे तो केवल प्रीति का आदर करते हैं वे दुखी एवं आर्त के सहज सहायक हैं-

स्याम गरीबन हूं के गाहक।

दीनानाथ हमारे ठाकुर सांचे प्रीति निबाहक।

कहा विदुर की जाति-पाति कुल प्रेम प्रीति के लाहक।

कहं पाण्डव के घर ठकुराई अरजुन के रथवाहक।

कहां सुदामा के धन हो तौ सत्य प्रीति के चाहक।

सूरदास सठ तातें हरि भजि आरत के दुख-दोहक।

सूरदास ने भगवान की भक्ति में उनके ऐश्वर्य-रूप का चित्रण नहीं किया। उन्हें तो उनका सरल रूप ही रुचिकर लगता है, जिसे वे निर्विरोध रूप से अपना सकें। इतना ही नहीं, वे भगवान से हठ ठानने को भी तैयार हैं। वे कहते हैं-

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं।

कै तुम ही, कै हम ही माधौ, अपुन भरोसे, लरिहौं॥

x x x x x x x x x x x x x x x x x x x

कत अपनी परतीत नसावत, मैं पायो हरि हीरा।

'सूर' पति तबहो उठहै प्रभु, जब हंसी दैहो बीरा॥

सूरदास ने इस दशा में अपनी पतितावस्था बताकर भगवान से कहा-हे भगवान ! यदि तुम मेरे जैसे को तारो तो जानें। अजामिल, गज, गनिका आदि का तारना कठिन नहीं था। मैं तो उन सब में शिरोमणि हूं।

प्रभु हौं सब पतितन को ठीको।
और पतित सब दिवस चारि के हौं तो जनमत ही कौ॥
को करि सकै बराबरी मोरी खैंचि कहत हौं लीको।

अपने प्रति भक्त के ये निरादर भरे भाव भगवान की महत्ता और पतित पावनता सूचक हैं। यह ठीक है कि भगवान की आत्मीयता उन्हें कृष्ण के प्रति यशोदा नन्द, गोप-गोपियों आदि ब्रजवासियों के भावों में मिलती है और इसी कारण उन्होंने वात्सल्य, मुख्य और माधुर्य का अधिक चित्रण किया है, किन्तु दैव्य-भाव भी उनका गौण भाव नहीं। सत्य तो यह है कि दैव्य के बिना भक्ति-भाव संभव ही नहीं। भावमात्र की भक्ति किसी न किसी प्रकार दैव्य युक्त होती है। सूर की मार्मिक दैव्य भावन अनेक पदों में प्रकट हुई है-

अबकै राखि लेहु भगवान।
हौं अनाथ बैठयौ द्रुम डरिया, पारधि साधै बान॥
ताके डर मैं भाज्यो चाहत, ऊपर ढुक्यो सचान।
दुहूं भांति दुख भयौं आनि यह कौन उबारै प्रान॥

इस दैव्य भाव की अभिव्यक्ति अन्य-वात्सल्य, माधुर्य आदि-भावों के साथ भी हुई है।

सूर के वात्सल्य में भी दैन्य है। उनका हृदय इतना कोमल और द्रवणशील है कि तनिक से वियोग में कातर हो उठता है। यही नहीं, वियोग की आशंका तक उन्हें कातर और दयनीय बना देती है। चाहे यशोदा हो या नन्द गोप सख हों या साधारण ब्रजवासी, गोपियां हों या राधा-यह करुण धारा सबके हृदय में प्रवाहित होती है। कृष्ण जब तक गोकुल में रहते हैं, तब तक तो यशोदा प्रसन्न बदन रहती हैं, किन्तु ज्यों ही अक्रूर कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए आते हैं और यशोदा देखती है कि कृष्ण समस्त मोह तोड़ मथुरा को चल पड़े हैं तो वे अत्यंत दीन हो पुकार उठती हैं-

मोहन नेकु बदन-तन हेरो।
राखो मोहि नात जननी को, मदन गुपाल लाल मुख फैरो॥
पीछे चढ़ौ विमान मनोहर, बहुरौ ब्रज में होत अंधेरो।
बिधुरन भेंट देहु ठांड़े व्है, निरखौं घोष जनम की खेरो॥
समदौ सखा स्याम यह कहि अपने कहि गाई ग्वाल सब घेरो।
गए न प्रान सूर तिहिं औसर, नन्द जनत करि रहे घनेरो॥

कृष्ण को मथुरा में छोड़ जब बाबा नन्द लौटने लगते हैं तो उनका हृदय ग्लानि से भर आता है। यहां उन्हें अपनी हीनता और कृष्ण की प्रभुता में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। वे करुण स्वर में कहते हैं-

तुम मेरी प्रभुता बहुत करो।
परम गंवार ग्वाल पसु पालक, नीच दशा लै उच्च धरो॥

इसी प्रकार दीनता से भरे नन्द जब अकेले ही गोकुल लौटे तो यशोदा ने पूछा-"मेरे कृष्ण कहां हैं ? उसके बिना तुम अकेले कैसे चले आए ?" "फूट न गई तिहारी चारों कैसे मरग सूझै

?" तुमने दशरथ की ही भांति वहीं प्राण क्यों न त्याग दिए ? क्या तुम कृष्ण को छोड़ दूध-दही चखने आए हो ? इस प्रकार यशोदा नन्द को धिक्कारने लगी। नन्द भी यह सुनकर व्याकुल हो गए और मूर्च्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़े। सचेत होने पर कभी नन्द यशोदा से कहते हैं-"तब तू मारबोई करति रिसिनि आगे फिर जो आवत लैं भांड़े", तो भी यशोदा नन्द से कहती हैं-

सूर नन्द फिर जावहु मधपुरी ल्यावहु सुत करि कोट जतन।

उक्त बातों में नन्द या यशोदा की दारुण दीनता प्रकट होती है।

इसके अनन्तर यशोदा कृष्ण से मिलने का उपाय सोचती है। कभी पथिकों द्वारा कृष्ण के लिए संदेश भेजती है-"कहियों पथिक माइ घर आबहु राम कृष्ण दोउ भैया, सूर स्याम तक होत दुखारी जिनके मो सी मैया" इतना ही नहीं, वे वसुदेव की दासी तक बनना चाहती हैं। विरह जन्य वात्सल्य के कारण यशोदा का हृदय यह सोचकर पश्चात्ताप करता है कि कृष्ण की बालहठ करने के कारण मैंने जो कष्ट सहे थे, स्यात् उन्हीं के कारण वे लौटकर नहीं आते। कभी वे पथिकों के पैर पकड़ कर भी विनती करती हैं। कृष्ण के बिना उन्हें सब निरर्थक जान पड़ता है, "सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू न लहे।" कभी-कभी यशोदा का आत्म-विश्वास भंग होने लगता है, फिर भी वे जानती हैं कि-

खान पान परिधान राज सुख जो कोउ कोटि लड़ादै।

तड़पि सूर, मेरो बाल कन्हैया माखन ही पचु पावै॥

उन्हें अब भी यह विश्वास है कि कृष्ण प्रेम के भूखे हैं, धन वैभव के नहीं। उनका यह विश्वास भक्त के इस विश्वास से भिन्न नहीं कि उसके भगवान को भक्त ही सर्वाधिक प्रिय होता है। जब उद्धव ब्रज आते हैं तो यशोदा उनसे भी अपने हृदय की दीनता प्रकट करती हैं-

ऊधो हम ऐसी तहिं जानी।

सुत के हतु मरम नहिं पायो प्रकटे सारंग पानी॥

जब उद्धव मथुरा जाने लगते हैं तो यशोदा मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं, किन्तु प्रेम के कारण उनके प्राण नहीं छूटते। वात्सल्य का दैन्य ही उन्हें सामान्य मानवीय धरातल की सच्चाई के साथ ऊपर उठाकर अलौकिक बना देता है। कबीर के शब्दों में-

विरह बन जेहि लागिया, औषध लगत न ताहि।

सुसुकि सुसुकि भरि-भरि जिए, उठे कराहि करहि॥

भक्त भी भगवान के वियोग में मूर्च्छित होता है, किन्तु प्रेम की फांसी ऐसी होती है कि तड़पते हुए भी प्राण नहीं निकलते।

गोप सखाओं का प्रेम भी वियोग दशा में अत्यंत करुण हो उठता है और वे ही सखा जो कृष्ण के साथ अत्यंत ढिठाई का व्यवहार करते थे, अत्यंत दीन बन जाते हैं। कृष्ण-वियोग की स्वल्पमात्र आशंका भी उन्हें कातर बना देती है। जब कृष्ण के दैवी रूप के संकेत उन्हें भावी वियोग का आभास देने लगते हैं, तब वे सखा-भाव भूल कृष्ण से प्रार्थना करने लगते हैं-

ग्वाल सखा कर जोरि कहते हैं, हमहि स्याम तुम जनि बिसरावहु।

जहां-जहां तुम देह धरत हौं, तहां तहां जनि चरण छुड़वावहु॥

माता यशोदा की वात्सल्य-पोषित दीनता और गोपियों की सख्य-पोषित दीनता का वर्णन ऊपर हुआ है। गोपियों और राधा की दीनता का माधुर्य प्रेम के अंतर्गत है। कोई समय था, जब गोपियां कृष्ण के साथ क्रीड़ा करती हुई उत्फुल्ल रहती थीं, परंतु कृष्ण के मथुरा जाते ही उनकी यह

प्रसन्नता दीनता में परिवर्तित हो गई। गोपियों की करुण दशा के चित्रण में कवि ने भक्त का दैन्य सबसे अधिक मार्मिकता के साथ प्रदर्शित किया है। अक्रूर जब कृष्ण को रथ पर चढ़ाकर मथुरा ले गए उस समय तो सभी देखती रह गईं। बाद में वे पश्चाताप करने लगीं-

हरि बिछुरत फाटयौ न हियौ।

भयौ कठोर ब्रज तैं भरी, रहि के पापी कहा कियौ॥

घोरि हलाहल सुन री समनी, तिहिं अवसर काहे न पियो।

कृष्ण के बिना उन्हें जीवन व्यर्थ लगने लगा। वे अनाथ हो गईं, उन्हें आशा है कि स्यात् कृष्ण उनकी विनती सुन लें। उनके हृदय के कातर हृदय की गंभीर करुणा है-

नाथ अनाथन की सुधि लीजै।

गोपी, ग्वाल, गाइ, गौ-सुत सब दीन मलीन दिनहि दिन छीजै॥

चरन कमल दरसन नव नौका करुना सिन्धु जगत जस लीजै।

'सूरदास' प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै॥

गोपियों का हृदयगत विषाद अधिकतर उद्धव के साथ परिहासपूर्ण व्यंग्यों में ध्वनित हुआ है। गोपियों की दशा बहुत ही करुणापूर्ण है। वे उद्धव को क्या सुनाएं ? गौओं की दशा द्वारा उनकी दशा का भी अनुमान लगाया जा सकता है-

ऊधो, इतनी कहियो जाइ।

अति कुस गात भई ये तुम बिन परम दुखारी गाई॥

जल समूह बरसति दोउ अंखियां, हुंकांत लीन्हे नाउं।

जहां-जहां गोदोहन कीन्हो, सूंघति सोई ठाउं॥

परति पछार खाइ छिन ही छिन अति आतुर व्है दीन।

मानहुं 'सूर' काढ़ि डारी हैं, बारी मध्य ते मीन॥

जब गौओं की यह दशा है तो गोपियों की-जो मानवी हैं क्या दशा होगी ? गोपियों में भी सबसे दीन मलीन अवस्था राधा की है-

अति मलीन वृषभानु कुमारी।

द्वरि श्रम जल भीज्यों उर अंचल, तिहि लालच न धुवावत सारी॥

अध मुख रहित अनत नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुवारी।

छठे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥

हरि संदेश सुन सहज मतक भइ, इक विरहिनी दूजे अलि जारी।

'सूरदास'कैसे करि जीवैं, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी॥

राधा ही नहीं अन्य गोपियां भी अत्यंत कातर हैं। उनके होठ सूख गए हैं, मुंह से बात नहीं निकलती, उलटी सांसें चलती हैं और चेहरे मुरझा गए हैं-

परम वियोगिनी भई सब ठाढ़ी।

ज्यों जलहीन दीन कुमुदनि, बन रवि प्रकाश को डाढ़ो॥

जिहिं विधि मीन सलिल ते बिछुरै तिहि अतिगति अकुलानी।

सखे अधर न कहि आवै कछु बचत रहित मुख बानी ।।

उन्नत स्वस बिरह बिरहातुर कमल बदन कुम्हिलानी ।

गोपियों की करुणा दशा के वर्णन में भी वही मनोवृत्ति दिखाई देती है, जो कवि ने विनय के पदों में हरि से करुणा याचना प्रकट करने में की थी । तब उन्हें विश्वास नहीं था कि हरि मुझे अपना लेंगे, अब विश्वास हो गया है । इसी कारण उनके दैव्य में निराशा नहीं । वस्तुत: यह दैन्य उनके प्रेम की ज्योति है, जिसके आरंभ में उन्होंने आदर्श रूप ग्रहण किया था । प्रेम की प्राप्ति हो जाने पर वियोग का दु:ख भी सुख ही देता है । यह देखने योग्य है कि दैन्य भाव सूर के मन का स्थायी भाव है जो उनकी श्रद्धा, विनयशीलता, भक्तिभावना की तीव्रता तथा सहज द्रवणशीलता का परिचायक है । भक्त के लिए यह भाव परम आवश्यक है । दैव्य के बिना भक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

सूर और भाषा- सूर काव्य के भाषापक्षीय अध्ययन से जो बात एकदम स्पष्ट हुई मिलती है वह है-भाषा की एक निष्ठा । सूर एकदम एक भाषानिष्ठ थे और यह भाषा थी-'ब्रज' जिसको स्वयं कवि ने, तत्कालीन मुसलमानों और जनसमाज में प्रचलित नाम 'भाषा या भासा' कहकर पुकारा है । 'सूरदास सोई हे पद भाषा करि गाई ।' नि:संदेह सूर न तो कबीर की भांति घुमक्कड़ थे और न तुलसी की भांति दो भाषाओं के प्रयोगकर्ता, न उनमें केशव वाला, संस्कृतीय पांडित्य-मोह था और न विद्यापति वाला भाषा-विवाद । दूसरी ओर, 'सूर की जन्म भूमि' (साही), साधना क्षेत्र (गोघाट) तथा उपासना-क्षेत्र (पारसौली) तीनों ही केन्द्रीय ब्रज प्रदेश में थे । दूसरे, स्वामी वल्लभाचार्य और अष्टछापीय प्रभाव, श्रीनाथ मंदिर में कीर्तनकार के रूप में रोज नए-नए पदों का सृजन एवं समकालीन काव्य साहित्य क्षेत्र में ब्रजभाषा का दिन-प्रतिदिन बढ़ता हुआ प्रयोग भी सूर को ब्रजभाषोन्मुखी बनाने में सहायक रहे होंगे । तीसरे, सूर काव्य का प्रधान-वर्ण्य विषय-कृष्ण-कथा और लीला-गायन भी एकदम ब्रज से संबंधित था । नि:संदेह इन्हीं कारणों से सूर ने ब्रजभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था ।

सूरकाव्य की भाषा के 3 रूप- सूर मूलत: भक्ति कवि हैं और उनके काव्य में भक्ति का अजस्र स्रोत आद्योपांत प्रवाहित हुआ मिलता है । इस प्रवाह की 3 धाराएं एकदम स्पष्ट हैं जिनके आधार पर इनकी भाषा के भी 3 स्पष्ट रूप देखे जा सकते हैं-1. भावात्मक भाषा, 2. विवरणात्मक भाषा तथा 3. कूटात्मक भाषा । भावात्मक भाषा को ही इसकी मूल भाषा कहना चाहिए । यह अधिकांशत: उन स्थलों पर है जो एकदम भावपूर्ण और मर्मस्पर्शी है । कवि की भावुकता, भाषा की प्रवाहशीलता, स्वाभाविकता, संगीतमयता और काव्यात्मकता आदि इन्हीं अवसरों पर प्रस्फुटित हुई है । विवरणात्मक भाषा मुख्यत: कथा प्रधान और दार्शनिक स्थलों पर मिलती है । 'सूरसागर' में आयी शुक्र, परीक्षित, जय-विजय, ध्रुव जड़भरत, नारद, इन्द्र अहिल्या, अम्बरीष तथा च्यवन आदि की विविध कथाएं विनय-पद और दार्शनिक स्थापनाओं के परिवादक स्थलों पर मुख्यत: यही भाषा-रूप प्रयुक्त हुआ मिलता है । स्थूलता, नाम गणना, इतिवृत्तात्मकता आदि इस भाषा की सामान्य विशेषताएं हैं । कूटात्मक भाषा नि:संदेह कूट पदों विशेषत: 'साहित्य लहरी' में मिलती है । दुर्बोधता, क्लिष्टता, चमत्कार वर्ण्य प्रधानता, लाक्षणिकता आदि इस भाषा की अपनी विशेषताएं हैं ।

भाषा सौष्ठव

शब्द भंडार- भाषा की इकाई है-शब्द। सूर का शब्द-भंडार विपुल भी है और विविध भी। प्रमाण ? सूर ने एक ओर तो संस्कृत, हिन्दी, अरबी, फारसी और सर्वाधिक ब्रज भाषा के शब्दों को ग्रहण किया है तो दूसरी ओर तत्सम, तद्भव और देशज सभी प्रकार के शब्दों को मुक्त मन से अपनाया है। "सूर के द्वारा प्रयुक्त हिन्दी शब्द कुछ तो समस्त हिन्दी-प्रदेश में प्रयुक्त हो चले हैं और कुछ ऐसे हैं जो केवल ब्रज में ही प्रयुक्त होते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो सूरदासजी के समय में प्रचलित थे किन्तु कालांतर में उनका प्रयोग ब्रज प्रांत में तथा ब्रज भाषा-काव्य की परंपरा में न चल सका। इतना अवश्य है कि इन शब्दों का प्रयोग अपने स्थल पर बड़ा ही उपयुक्त है।" संस्कृत के (तत्सम) शब्द प्राय: सिद्धांत-निरूपण, अप्रस्तुत योजना, विनय पदों और स्तुतियों में ही अधिक आए हैं। अन्य भाषाओं के शब्द यत्र-तत्र आए हैं। जहां तक प्रश्न है विदेशी शब्दों (अरबी, फारसी) का, "इन शब्दों का प्रयोग करते हुए उन्होंने इन पर ब्रजभाषा की कलई कर रखी है। यही कारण है कि शब्दों का स्वरूप हिन्दी के इतने अनुरूप हो गया है कि उनका विदेशीपन लक्षित ही नहीं होता। अर्थ की दृष्टि में इन शब्दों का सौन्दर्य अनुपम है।" इतना ही नहीं, कवि ने स्वयं भी अनेक शब्दों का निर्माण किया है। निम्न कुछ प्रमाण देखिए-

तत्सम शब्द- अम्बुज, निरालम्ब, वसुधा, अधोमुख, नृत्य, अजिर, अवज्ञा, खगपति इंदीवर, करम, गृह, दंपत्ति, पिनाक, पन्नग, रसना, राका, रजनीचर, संघात, हाटक आदि।

तद्भव शब्द- अंकवारि, अंचरा, अधियारो, अनत, अंमराई, औसर, कान्हा, दही, निठुराई, नेम, पखी, सुरति, रोग, हियरौ, अटारी, कुरुखेत, तमचूर, बछल, बिज्जु आदि।

देशज शब्द- करतूती, करनी, मूंड, औचट, खरिक, खोही, मोसों, छाक, डहकायो, देर, धारी, नैसी, बाई, बागरि, लठबांसी आदि।

अनुकरणात्मक शब्द- अरबराइ, किलकित, खुनखुना, गहगहात, चचोरत, झकझोर, झकोरा, झंकार, झलमलात, झुनुक, डगमगाइ, भभकत, भहरात, हलबली आदि।

अरबी शब्द- गुमान, दगा, असल, आदमी, उमरान, कुरबानी, गुलाम, फौज, मसखरा, हकीम, आब कंगूरा, गुनहगार, गुलामी, दर, परवाना, खाजार, मुजरा, यारी, सही, सहर, सिकार, सेहरो, हरामी, हजुर आदि।

पंजाबी- महंगी, प्यारी, पा, बरिया।

पूर्वी- हमार, गोड, आपने।

कवि निर्मित- ज्योतिक, मसानी, उतजोग, उसाधा, बिचवाना, पुस्चली, निस्चै, भिनुसार, विसकर्मा, अनमारगी, तिपीसी आदि।

"कवि के शब्द- प्रयोग की सबसे बड़ी विशेषता है-उसकी व्यापक संग्राहक शक्ति। पात्र और परिस्थिति के विचार से जिन शब्दों को उसने उपयुक्त समझा, उसका प्रयोग करने में उसे इस बात का संकोच नहीं हुआ कि वे किस श्रेणी अथवा किस उद्गम के हैं।... विभिन्न उद्गमों के शब्दों का प्रयोग नवीन शब्दों की रचना तथा शब्दार्थ की व्यापकता में वृद्धि करके उसने भाषा की संपत्ति में जो योगदान दिया है, कदाचित उसके समक्ष उसका स्वतंत्र कवि के विशेषाधिकार से अधिक चिन्त्य नहीं रह जाता।" व्यापक धरातल, अर्थ-अधीनता, भावानुकूलता और अभिव्यक्ति सबलता प्रवाहमयता, समन्वयवादिता तथा सब मिलकर अद्भुत प्रभावोत्पादकता आदि सूर की इस भाषा में प्राप्त अन्य विशिष्ट गुण हैं।

मुहावरे लोकोक्तियां- अर्थ-व्यंजना को बढ़ाने, रोचकता और प्रभाव को उत्पन्न करने, कथन में चमत्कार और वाग्बैदग्ध्ता लाने एवं समाज-संचित अनुभव तथा मनोवैज्ञानिकता आदि का समावेश करने में मुहावरे लोकोक्ति सर्वाधिक सशक्त साधन होते हैं। सूर द्वारा प्रयुक्त मुहावरे अपनी बहुलता में नहीं केन्द्रीकरण में महत्वपूर्ण हैं। कवि ने अधिकांशत: ब्रज-प्रदेश में प्रचलित मुहावरों का प्रयोग किया है और वह भी सबसे अधिक 'भ्रमरगीत' प्रसंग में। लगभग 90 प्रतिशत मुहावरे यहीं पर प्रयुक्त हुए मिलते हैं। डॉ. कैलाशचंद्र भाटिया के मतानुसार तो केवल आंख से संबंधित ही 150-200 मुहावरे इस प्रसंग में प्रयुक्त हुए मिलते हैं।

सूर ने मुहावरों का प्रयोग मुख्यत: दो रूपों में किया है पीड़ित हृदय (गोपियों) के सहजोद्धार रूप में तथा उक्ति-वैचित्र्य के साधन रूप में। प्रथम प्रकार के मुहावरों में गोपियों का आक्रोश, खीझ, झुंझलाहट, डाह, प्रतिशोध, व्यंग्य, उपालंभ, पीड़ा, विवशता, व्याकुलता आदि मन:स्थितियां एकदम मर्म-स्पर्शी स्वाभाविकता के साथ मुखर हुई हैं तथा "सिर पर सौति हमारे कुब्जा, चाम के दाम चलावै,' 'काटे ऊपर लोन लगावत,' लिखि लिखि पठवत चीठी, 'जोइ जोइ आवत वा मथुरा तै' 'एक डार के तोरे'। हियरो सुलगावत, पालागौ, धूम के हाथी फिरति धतूरा खाए पढवे पाठ, हाथ बिकानी, कन मिलयो, बोहित के काग, भौंहे तानत, लेन न देन तथा प्रेम की फांसी आदि भी इसी वर्ग के कुछ अन्य मुहावरे हैं।

उक्ति वैचित्र्य रूप से मुहावरों का सर्वाधिक प्रयोग उपहार-विनोद-विषयक पदों में हुआ है अथवा मुरली-प्रसंग में। खारे कूप को वारि, पवन को भुस भयौ, खोटो खायो, पोच कियो अंगुरी गहत गह्यो पहुंचो, गूंगे गुर की दसा, दैंनाब चढ़ावत तथा गांठि को लागत आदि इसी वर्ग के कुछ प्रमाण हैं।

लोकोक्तियां साधारणत: किसी सारगर्भित विचार, पूर्ण वाक्य अथवा परंपरागत कथा या सूक्ति के रूप में कथन-पुष्टि हेतु प्रयुक्त की जाती हैं। सूर ने ब्रज प्रचलित लोकोक्तियों का प्रयोग तो किया ही है, नाना लोकोक्तियों का सृजन भी किया है जो आज भी 'सूक्ति-रूप' में मान्य हैं। साधारणत: ये तीन प्रकार की हैं-

1. **प्रचलित लोकोक्तियां-** एक पथ द्वै काज, दूध का दूध पानी का पानी, धान की गांव पयार ते जाने, एक म्यान दो खांडे, दाई आगे पेट दुरावति, बीस विरिया चोर, अपनो बोयो आप लोनिए आदि।

2. **परिष्कृत लोकोक्तियां-** स्वान पूंछ कोटिक लागै, सूधी कहुं न करि, अपनो दूध छाड़ि को फीवे खाने कूप को पानी, जोबन रूप दिवस दस ही को, कंचन खोइ कांच लै आए आदि।

3. **स्व-निर्मित लोकोक्तियां-** सूरी के पातन के बदले को मुकताहल दैहे, लौंडी की डौंडी, जगबाजी, प्रेमकथा सोई पै जानै, बीतो होइ, तुलसी को कोटि, नीम प्रगट भयो, नहीं उपजत धनिया, धान, कुम्हाड़ै, दिगम्बरपुर तै रजक कहा ब्यौ साइ, सुमेरू तृण और दुरावत, परेखो काको कीजै पाप कियो जिन दूजो आदि।

एकदम सच तो यह है कि, "सूर के मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग भाषा की रूढ़ता के सहज माध्यम मात्र न होकर सशक्त अभिव्यंजना के प्रसाधन हैं।-इनके द्वारा जहां सूर की भाषा-समृद्धि का परिचय मिलता है, वहीं उनके सामाजिक अनुभव और सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिज्ञान होता है, इसलिए सूर की लोकोक्तियां और मुहावरे साहित्य में प्राप्त मुहावरों और लोकोक्तियों के सामान्य प्रयोग से सर्वथा भिन्न हैं।"

शब्द-शक्ति- काव्य में शब्द के 3 अर्थ होते हैं-वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्यार्थ। इन्हीं के आधार पर शब्द की तीन शक्तियां मानी जाती हैं अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना। सूर ने यद्यपि प्रयोग तो तीनों का किया है किन्तु प्रधानता अंतिम दो की है। अमिधा का प्रयोग प्राय: विवरणात्मक पदों, स्फुट

आख्यानों तथा स्तोत्रादि में ही किया गया है। सूर का सर्वाधिक कौशल मुखरित हुआ है-व्यंजना-प्रयोग में जिसका सर्वोत्तम स्थल है भ्रमरगीत। इसके साथ ही साथ बाल-लीला, मुरली, राधा-प्रेम, मानादि लीलाएं तथा कूट पदादि इसी प्रकार के कुछ प्रसंग हैं। एक उदाहरण देखिए-

"प्रकृति जोई जाके अंग परी।

स्वान-पूंछ कोटिक जा लागै सूधि न काहु करी।"

काव्य-गुण- काव्य-गुण 3 हैं, माधुर्य, ओज और प्रसाद। सूर काव्य में तीनों का ही समुचित प्रयोग मिलता है। माधुर्य का प्रयोग मुख्यत: रूप-वर्णन, श्रृंगारिक प्रसंगों, मुरली आदि में, ओज का वीरत्व सूचक प्रसंगों (यथा कालिया मर्दन, पूतना वध, गोवर्धन-धारणादि) तथा प्रसाद गुण विनय पदों, लीला तथा दार्शनिक स्थलों पर किया गया है।

अलंकार- सूर ने सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है, वह भी बहुतायत से। सायात-रहित होना, भाव-शबल्य में सहायक-रूप तथा स्वाभाविकता आदि इनके अलंकार-प्रयोग की अपनी विशेषताएं हैं। कहीं-कहीं विशेषत: कूट पदों में चमत्कार-उद्रेक भी मिलता है। प्रमुखता है अर्थालंकारों की जिनमें सर्वाधिक मात्रा में तो साम्यमूलक अलंकार हैं। "उनके प्रियतम अलंकार उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा हैं जिनके सुन्दर और अतिशय कलात्मक प्रयोग में संभवत: कोई हिन्दी कवि इनके समकक्ष नहीं ठहर सकता।...सांगरूपक पर तो...सूरदास का असाधारण अधिकार है।" इसी भांति अनुप्रास प्रयोग से कवि ने यदि ध्वन्यात्मक सौन्दर्य और वातावरण का निर्माण किया है तो वीप्सा-प्रयोग से सच्ची भक्ति-भावना और वक्रोक्ति से वाग्वैग्ध्य और व्यंजनात्मक अभिव्यक्ति का परिचय दिया है। एकदम सच तो यह है कि, सूर काव्य में...अलंकारों का अनंत वैभव विकीर्ण है। स्वाभावोक्ति में तो उनसे आगे विश्व का संभवत: कोई ही कवि बढ़ सका हो।...अलंकार उनके काव्य में सहज समाविष्ट होकर उसकी चारुता को अतिशय प्रदान कर रहे हैं।" समग्रत: श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में कह सकते हैं कि "सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनके पीछे-पीछे दौड़ा करता है।"

कुछ दोष- कहीं-कहीं, प्राय: भावावेश या कविसुलभ उपेक्षा भाव के कारण सूर की भाषा में कुछ काव्य-दोष भी आए मिलते हैं। कई स्थानों पर कवि तुकप्रियता या मैत्री मोहवश लिंग, कारक-चिन्ह या क्रिया-रूपों में नियमोल्लंघन कर गया है जिससे भाषा में च्युत संस्कृति दोष आ गया है यथा "विस्मय मिटि" में पुल्लिग विस्मय के साथ 'मिटि' स्त्रीलिंग क्रिया का प्रयोग, सूल दिखावत, परसावत आदि का स्त्रीलिंग में प्रयोग आदि। कहीं-कहीं विभक्ति का असंगत प्रयोग है। (यथा, 'अखियानि स्याम अपनी करी') तो कहीं ग्राम्यत्व का समावेश (यथा बांभन, गेरत, डहरि, भैनि, बूतैं आदि के प्रयोग)। दृष्टिकूट पदों में क्लिष्टत्व और अप्रतीत्व दोष भी हैं। पुनरुक्ति इनका प्रधान दोष है। सूरसागर में न केवल प्रसंगों की अनेक आवृत्तियां हैं वरन उक्तियों, उपमाओं और पंक्तियों की भी पुनरावृत्तियां होती गई हैं।" इसी भांति कहीं कहीं अधिक पदत्व (यथा 'हृदय हरषित प्रेम गद्‌गद् मुख न आवत बैन') यथा न्यूनपदत्व (यथा मुख छवि कहौं कहां लगि गाई' पद) एवं अश्लीलत्व (यथा सुरति-बर्जन-प्रसंगों में) काम चेष्टाओं के अंतर्गत आदि भी देखे जा सकते हैं।

उपसंहार- सूर ब्रजभाषा के सर्वाधिक सशक्त प्रयोक्ता और निर्माता कवि थे। उनका महत्व तब और भी बढ़ जाता है जबकि हम देखते हैं कि "सूरदासजी से पूर्व ब्रजभाषा काव्य की कोई प्रतिष्ठा-प्राप्त परंपरा न थी।" ब्रजभाषा की सामान्य बोली को काव्य-क्षेत्र में प्रतिष्ठित करना, उसको साहित्य रूप प्रदान करना, व्यापक बनाना, विश्वरूप भाषा पर आधिपत्य रखना आदि सूर की ब्रजभाषा को अद्‌भुत देन है। अत: श्री नाभाजी से सहमत होते हुए कह सकते हैं कि-

"उक्ति चोज अनुप्रास बरन, अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निरवाह अर्थ अद्‌भुत तक धारी।"
विमल बुद्धि गुन और की जो वह गुन स्रवनन करै।
सूर कवित्त सुनि कौन कवि जो नहिं किर चालन करै।"

तुलसीदास

भक्तिकाल की सगुण धारा की रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास को हिन्दी कविता का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है। तुलसी का काव्य भाव- पक्ष और कला- पक्ष दोनों ही दृष्टियों से उत्तम है।

(I) भाव- पक्ष

तुलसी के काव्य की भाव- पक्ष की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं -

1. **वस्तु विन्यास-** तुलसीकृत रामचरित् मानस का कथानक 'आध्यात्म रामायण तथा वाल्मीकि रामायण' से लिया माना जाता है। जहां भी तुलसी ने इनमें परिवर्तन आवश्यक समझा है, वहां कलात्मकता का पूरा ध्यान रखा है। कथावस्तु के विकास और वर्णन विस्तार में भी तुलसी की असाधारण प्रतिभा और कला के दर्शन होते हैं।

2. **भक्ति भावना-** तुलसी की भक्ति भावना उनके काव्य के भाव- पक्ष का प्राण है। तुलसी ने दास्यभाव की भक्ति को स्वीकारा है। वे कहते हैं -

"सेवक- सेव्य भाव बिनु,
भव न तरिय उर गारि।"

तुलसी की भक्ति का आदर्श चातक था। वे उसी प्रकार राम के भरोसे हैं जैसे 'चातक'घन के भरोसे है-

"एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास,
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास।"

चातक का अनन्य प्रेम निष्ठा, पीड़ा, मान, प्यास, उत्कंठा, ध्यान, लगन, उनकी भक्ति का आदर्श था।

3. **रस- व्यंजना-** तुलसीदास के काव्य में सभी रसों का पूर्ण परिपाक हुआ है। शान्त रस तो तुलसी काव्य में सर्वत्र ओत- प्रोत है। विनय- पत्रिका का एक उदाहरण देखिये-

जन जुत विमल सिलनी झलकत नभ, प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहु जग रचना विचित्र, विलासत, विराट अंग- अंग।
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि- झरि, भरि- भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानो राम भगति के पीछे।

(II) कलापक्ष

तुलसी काव्य की कलागत विशेषताएं निम्नलिखित हैं-

1. **अलंकार-** तुलसी के काव्य में अलंकार प्रियता देखी जा सकती है हालांकि वे अलंकारवादी नहीं हैं। तुलसी को अलंकार प्रदर्शन पसन्द नहीं है, बल्कि अलंकार उनके काव्य में सहज रूप से आये हैं। उपमा एवं व्यतिरेक का एक उदाहरण देखिये -

"पीपर पात सरिस मन डोला।" (उपमा)

"सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पै कहै जाना।

निज परिपात द्रवै नवनीता, परिदुख सुसंत पुनीता।" (व्यतिरेक)

2. **चित्रात्मकता -** तुलसी के शब्द चित्र अनुपम हैं। वे पाठक के अन्त पटल पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं। सीता की असहाय स्थिति का एक चित्र देखिये-

"रघुकुल तिलक वियोग तिहारे।

मैं देखो जब नाई जानकी,

मनहुं विरह मरति मन मारे।"

3. **शब्द और अर्थ का सामंजस्य-** तुलसी के काव्य में शब्दार्थ का सुन्दर समन्वय है। लक्षणा शब्द शक्ति का एक सुन्दर प्रयोग देखिये-

"सत्य सराहि कहेउ बरू देना,

जानेहु लेइहि मांगि चबैना।"

4. **भाषा-** तुलसी ने अवधी और ब्रजभाषा में अपने काव्य की रचना की है। रामलला, नेहछु, बरबै रामायण, जानकी मंगल, पार्वती मंगल और रामचरित् मानस आदि रचनायें अवधी में लिखी गई हैं जबकि कृष्ण गीतावली, कवितावली और विनय पत्रिका आदि ब्रजभाषा में लिखी गई रचनायें हैं जबकि तुलसी ने भाषा के साधु प्रयोग का पूर्ण ध्यान रखा है। अवधी और ब्रज दोनों के व्याकरण के नियमों का पूर्ण ध्यान रखा है।

5. **छन्द योजना-** तुलसी का छन्दों पर अवाध अधिकार था। इन्होंने प्रधान रूप में दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग किया है। वैसे तुलसी साहित्य में कवित्त, सवैया, छप्पय आदि अनेक प्रकार के छन्द मिलते हैं। विनय- पत्रिका में राग- रागनियों पर आधारित पद हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि तुलसी काव्य में कला- पक्ष और भाव- पक्ष अपने अत्यन्त प्रौढ़ रूप में हैं जो उन्हें एक अप्रतिम, प्रतिभाशाली, क्रान्तिदर्शी कवि सिद्ध करते हैं।

तुलसी के काव्य की महत्ता

रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि गोस्वामी तुलसीदास का जन्म जनश्रुति के अनुसार संवत् 1989 माना गया है। सर जार्ज ग्रियर्सन व आधुनिक शोधों के आधार पर भी यह स्पष्ट होता है। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का नाम हुलसी था। इनका विवाह दीनबंधु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था। जनश्रुति के अनुसार तुलसी अभुक्त मूल नक्षत्र में पैदा होने के कारण माता- पिता द्वारा त्याग दिये गये थे। पांच वर्ष तक मुनिया नाम की दासी ने इनका लालन- पालन किया।

दासी की मृत्यु के पश्चात् उसी अवस्था में इनके दीक्षा गुरु बाबा नरहरिदास की इन पर दया- दृष्टि हुई। इन्हीं से तुलसी ने शूकर क्षेत्र या सोरों में रामकथा सुनी थी। शेष सनातन के पास

काशी में 16- 17 वर्ष रहकर वेद, पुराण, उपनिषद् रामायण तथा भागवत् आदि का गम्भीर अध्ययन किया और अन्त में काशी में रहने लगे। काशी में तुलसी का मान बढ़ता गया। राजा टोडरमल, रहीम और मानसिंह तुलसी के अन्यत्र मित्र थे।

तुलसी की कृतित्व (रचनाएं)

पं. रामगुलाम द्विवेदी व आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रन्थ में तुलसी के छोटे- बड़े बारह ग्रन्थों को ही प्रमाणिकता दी है। नागरी- प्रचरिणी सभा ने इन बारह ग्रन्थों को ही प्रामाणिक मानकर प्रकाशित किया है- दोहावली, कवित्त, रामायण, गीतावली, रामचरित् मानस, रामाज्ञा, प्रश्नावली, विनय पत्रिका, रामलला नहछु, पार्वती मंगल, जानकी वरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृष्ण गीतावली। इन ग्रन्थों में प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से रामचरित् मानस और मुक्तक काव्य की दृष्टि से विनय पत्रिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएं हैं।

"तुलसीदास लोक मंगल के नायक कवि थे।" अथवा "तुलसी सच्चे अर्थों में लोकनायक थे।"

डॉ. हजारीप्रसाद ने तुलसीदास के विषय में विवेचन करते हुए एक स्थान पर लिखा है - "लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय कर सके क्योंकि भारतीय जनता में नाना प्रकार की परम्परा, विरोधी संस्कृतियां, साधनायें, जातियां, आचार निष्ठा और विचार पद्धतियां प्रचलित थीं। विद्यापति के गीतों में समन्वय की चेष्टा है और तुलसी भी समन्वयकारी थे।"

तुलसी भक्त, कवि पण्डित, सुधारक, लोकनायक, समन्वयवादी और भविष्य सृष्टा- दृष्टा थे। उन्होंने अपने युग को परखा था। उस समय सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक अभावों को तुलसी ने भली- भांति समझा था और उसी के अनुरूप उन अभावों को दूर करने के लिये उन्होंने उपाय भी सोचे थे। तुलसी ने यह माना कि युग के परिवर्तित होते ही युग धर्म बदल जाता है तो युग की मांग के अनुसार ही सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक गठन होना चाहिये। इसके लिये आवश्यकता इस बात की थी कि प्राचीन में जो श्रेयस्कर और सुन्दर है, उसका समन्वय हो, इसलिये तुलसी एक श्रेष्ठ समन्वयकारी कवि थे। राम की शक्ति और सौन्दर्य से समन्वित रूप की स्थापना करके उन्होंने अत्याचारी शासकों से त्रसित हिन्दू जन मानस को ढांढस बंधाया। तुलसी के राम सर्वशक्तिमान, दीनबंधु और दुष्ट दमनकारी थे। उनके इस रूप को ग्रहण करके ही जनता में अत्याचार का विरोध करने की शक्ति उत्पन्न हुई, चाहे ये अत्याचार धार्मिक हो या सामाजिक अथवा राजनैतिक, भारतीय जनता को तुलसी के आश्वासन पर पूर्ण विश्वास हो गया कि प्रभु शीघ्र ही भारत में अवतरित होंगे और मानव रूप में हमारे सम्मुख आकर हमारे कष्टों को दूर करेंगे -

'जब- जब होई धरम की हानी।

बाढ़हि असर अधम अभिमानी॥

तब- तब प्रभु धरि विविध सरीरा॥

हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥"

तुलसी ने इन शब्दों द्वारा जनता के सम्मुख एक आदर्श स्थापित किया। मग्न हृदय से जनता को आश्वासन दिया। उन्होंने शोषण का, चाहे वह किसी प्रकार का हो सदैव विरोध किया।

तुलसी जगजीवन अहित, कबंहू कोउ हित जानि।

शोषक भानु कृपानु महि जलद एक धन दानि॥

तुलसी का आदर्श केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न था, वह राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में भी आरूढ़ था। तुलसी ने राम- राज्य की कल्पना की थी, उसमें शासक को भी अत्याचार करने का अधिक अवसर न था। तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है -

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।

सो नृप अवसि नरक अधिकारी॥

परन्तु उन्होंने दूसरी ओर ऐसे समाज की परिकल्पना की है जहां पर सुख शान्ति सर्वत्र है-

"दण्ड जवनि कर भेद, जहं नर्तक नृत्य समाज।

जीतहुं मनहि सुनिअस, रामचन्द्रन के राज॥"

तुलसी ने ऐसे रामराज्य की कल्पना की है, जिसमें आदर्श राज्य की कल्पना की गई है। राम- राज्य साम्राज्यवादी (एकतन्त्रीय) शासक न था वरन् वह प्रजातन्त्रीय शासक ही था। तुलसी के अनुसार राजा का धर्म प्रजा- पालन तथा प्रजा की सुख- समृद्धि का ध्यान रखना था। तुलसी ने जिस राम- राज्य की कल्पना की थी वह यह है -

(1) **"दैहिक दैविक भौतिक तापा।**

राम राज काहूं नहि व्यापा॥

(2) **"नहि दरिद्र कोउ दुःखी न दीना।**

नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।"

इस प्रकार तुलसी ने जिस राम- राज्य की कल्पना की है, वह अभावों से रहित है। उसमें न तो कोई निर्धन है, न दुःखी और न अज्ञानी है, सब प्रेम- भाव से रहते हैं, कहीं कोई संघर्ष नहीं।

"सब नर करहि परस्पर प्रीति।

चलहि स्वधर्म निरत श्रूती नीति।"

यह वह आदर्श है जिसके कारण तुलसी का सर्वाधिक प्रचार हुआ। तुलसी ऐसे कवि थे जिन्हें अशिक्षित और निम्नकोटि के व्यक्तियों से लेकर परम साधकों और काशी के प्रकाण्ड विद्वानों तक का सहवास प्राप्त हुआ था। उनका ब्रजभाषा, अवधी भाषा तथा संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार था। लोक और शास्त्र के इस सम्मिलित और यथार्थ ज्ञान ने ही उनके काव्य को इतना व्यापक और लोकप्रिय बनाया है। तुलसी सच्चे अर्थों में क्रान्तिकारी थे, उनके युग में जो अन्य कवि थे, वह केवल नर काव्यों का सृजन कर रहे थे। आश्रयदाताओं की प्रशंसा में ही वह अपनी सम्पूर्ण काव्य शक्ति का उपयोग कर रहे थे। तुलसीदासजी इस प्रकार की झूठी प्रशंसाओं के विरोधी थे। उनकी विचारधारा थी -

"कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना।

सिर धुनि गिरा। लगि पछिताना॥"

तुलसीदासजी व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनका आदर्शवाद उन्हें जनकल्याण की भावना से प्रेरित करता है। इसलिए उनका साहित्य जनता के हित में लिखा गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि उनकी लोकप्रियता निरन्तर बढ़ती चली गयी।

तुलसी की लोकप्रियता का दूसरा प्रबल कारण उनका उदारवादी दृष्टिकोण है। उस युग के समाज के अन्तर्गत जो ऊंच- नीच की भावना कार्य कर रही थी, तुलसी ने उनका विरोध किया। ब्राह्मणों ने उपासना, मुक्ति, वेदाध्ययन, भक्ति आदि का द्वार अछूतों और विधर्मियों के लिए बन्द कर

रखा था। तुलसी ने उन सबके लिए द्वार खोल दिये। तुलसी की भक्ति वर्ग, जाति, धर्म आदि के कारण किसी का बहिष्कार नहीं करती। जो अति अधर्मी समझे जाते हैं- उन व्याधीर, जमन, किरात, खस, स्वपच आदि के लिए भी उनका कहना है कि वे राम नाम लेकर मुक्त हो सकते हैं, यह उनके उदारवादी दृष्टिकोण का स्वरूप है।

तुलसीदासजी आदर्शवादी साहित्यकार हैं, परन्तु उनका आदर्श जनहित की कामना से प्रभावित था। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार, "उत्तरकाण्ड में एक ओर राम राज्य की कल्पना, दूसरी ओर कलयुग की यथार्थता के द्वारा तुलसीदास ने अपने आदर्श के साथ वास्तविक परिस्थिति का चित्रण कर दिया है। किसी दूसरे कवि के चित्रों में इतनी तीव्र विषमता नहीं है।

तुलसी की दृष्टि बड़ी तीव्र थी, उन्हें लोकहित का बड़ा ध्यान था। उनका मत था, "जब तक लोक- मर्यादा का पालन नहीं होगा, तब तक जन- कल्याण असम्भव है।" इसी कारण तुलसी के काव्य में एक पंक्ति भी ऐसी नहीं मिलेगी, जिससे मर्यादा का उल्लंघन हो। तुलसी व्यक्तिगत एवं समष्टिगत कल्याण की भावना से ओत- प्रोत हैं।

तुलसी की लोकप्रियता के विषय में डॉ. प्रकाशचन्द गुप्त का कथन है- "तुलसी की दृष्टि व्यापक और सार्वभौमिक थी। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण स्वस्थ और जनवादी था। दृष्टि का यह व्यापक प्रसार हमें विश्व के दो चार ही लेखकों या कवियों से मिलता है। जीवन के रंग- बिरंगे, विचित्र रूप को उन्होंने उनकी समग्र व्यापकता में देखा। हर्ष, शोक, उल्लास, विषाद, जय- पराजय के क्षण उनके काव्य में हम चिरकाल तक सुरक्षित पायेंगे। मनुष्य का, प्रकृति का, समाज का व्यापक दर्शन साहित्य में पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुआ है।

'तुलसी की भक्ति पद्धति'

(1) तुलसी की भक्ति का स्वरूप - भक्ति के प्राचीन स्वरूप को लेकर चलने वाले भक्त वेदशास्त्रज्ञ- तत्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाओं के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का मूलाधार भगवान का लोक- धर्म- रक्षक और लोकरंजक स्वरूप था। भक्ति का यह स्वरूप नैराश्यमय नहीं वरन् इसमें शक्ति का बीज निहित है, जो किसी भी जाति को उठाकर खड़ा कर सकता है। तुलसी ने इसी भक्ति के सुधा रस से सींच कर मुरझाते हुए हिन्दू जीवन को फिर से हरा किया। इतना ही नहीं, तुलसी ने भगवान के लोक व्यापार मंगलमय रूप को दिखाकर आशा और शक्ति का अपूर्व संचार किया।

(2) तुलसी की भक्ति का प्रभाव- भक्ति की इसी धारा ने हिन्दू जनता को शक्ति दी और इसी भक्ति के सच्चे उद्गारों ने हमारी भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की। लोक मानस के समक्ष राम स्वरूप को उपस्थित कर तुलसी ने उनकी अखिल जीवन- वृत्ति व्यापिनी कला को अभिव्यक्त् करने वाली वाणी का स्फुरण किया और यह बतला दिया कि भगवान दूर नहीं। वह तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। इस प्रकार तुलसी ने अपने 'मानस' द्वारा राम के चरित्र की जो शील- शक्ति सौन्दर्यमयी धारा प्रवाहित की उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति में पहुंचकर भगवान के स्वरूप को प्रतिबिम्बित कर दिया। रामचरित्र की व्यापकता ने तुलसी की वाणी को घर- घर पहुंचा दिया। इतना ही नहीं उत्तरापथ के समस्त हिन्दू जीवन को राममय ही बना दिया।

(3) भारतीय भक्ति पद्धति - भारत में ज्ञान- मार्ग, भक्ति- मार्ग अलग- अलग हैं। फिर भी भारतीय परम्परा वाला भक्त न तो पारमार्थिक ज्ञान का दावा करता है और न अलौकिक सिद्धि या रहस्य का ही।

(4) ज्ञान- मार्ग से भक्ति- मार्ग सरल- तुलसी के समय यद्यपि ज्ञान- मार्ग का बोल- बाला था किन्तु तुलसी ने भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा सरल बताकर भक्ति- मार्ग का प्रसार किया। उनके अनुसार भक्ति- मार्ग सर्वसुलभ है। यह स्वाभाविक भी है-

निगम अगम साहब सुगम, राम सौचिली चाह।

अबु असन अवलोकियत, सुलभ सबै जग माह॥

किन्तु जो मन, वाणी एवं कर्म के सरल हैं वही इस पर चल सकते हैं-

सूधे मन सूधे बचन, सूधी सब करतूति।

तुलसी सूधी सकन विधि, रघुवर प्रेम प्रसूति॥

भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ बताते हुए वे लिखते हैं -

रामचन्द्र के भजन बिनु, जो चह पद निर्वान।

ग्यानवंत अपि सो नर, पशु, बिनु पूंछ विषान॥

एक अन्य स्थल पर भी वे लिखते हैं -

जो अस भगति जानि परहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं।

ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥

इस प्रकार मानसकार ने सर्वत्र ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

(5) तुलसी की भक्ति- पद्धति- तुलसी भक्त हैं अतएव वे लोक में भगवान का दर्शन करते हैं। शुक्ल जी के मतानुसार भक्ति हृदय का एक भाव है। इसलिए जगत में भासित होने वाला स्वरूप ही हमारे प्रेम या भक्ति का आलम्बन हो सकता है। तुलसी राम के भक्त थे, इसलिये सम्पूर्ण विश्व को उन्होंने 'राममय' ही देखा है -

सिया राम मय सब जानी।

करहुं प्रनाम जोरि जुग पानी॥

सम्पूर्ण संसार को राममय बनाकर तुलसीदास जी निर्गुण एवं सगुण में भी अभेद उपस्थित कर देते हैं। उनके अनुसार निर्गुण ही भक्तों के प्रेम के वशीभूत होकर सगुण रूप में अवतरित होता है।

सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा॥

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुनहिं होई॥

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जन हिम उपल विलग नहिं जैसे॥

तुलसी के अनुसार अयोध्यावासी दशरथनन्दन राम ही ब्रह्म हैं। वे निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं और गुणों के धाम भी हैं -

व्यापक ब्रह्म अलखु अविनासी।

चिदानन्द निरगुन गुनरासी॥

इतना ही नहीं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश उन्हीं की आज्ञानुसार सृष्टि की रचना करते हैं, उसका पालन करते हैं और उसका संहार भी करते हैं।

जाके बल विरंचि हरि ईसा।

पालत रहत सृजत दससीसा॥

यद्यपि ब्रह्म के अनेक नाम हैं किन्तु तुलसी को राम का नाम ही अधिक प्रिय है। इसीलिये नारद के माध्यम से तुलसी राम से वरदान मांगते हुए लिखते हैं कि -

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका।

राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अद्य खग मन बधिका॥

इतना ही नहीं, कुम्भज ऋषि के माध्यम से तुलसीदास राम से उनके सगुण रूप की ही भक्ति की याचना करते हैं-

यद्यपि ब्रह्म अखण्ड अनन्ता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता।

अस तब रूप बखनऊं जानउं। फिरि- फिरि सुगन ब्रह्म रति मानउं॥

(6) दास्यभाव की भक्ति- तुलसीदास इन्हीं सगुण साकार राम की भक्ति करते हैं। भक्ति मार्ग में ज्ञान की चरम उपलब्धि दैन्यभाव के आविर्भाव में है। एक भक्त के लिये सबसे बड़ा ज्ञान यही है कि वह अपने आराध्य को बड़े से बड़ा समझे और अपने को अधम से अधम। यही कारण कि तुलसी की भक्ति दास्यभाव की है। वे भगवान को अपना मालिक और अपने को उनका दास समझते हैं। उनकी मान्यता है, बिना सेव्य- सेवक भाव की भक्ति के मानव का उद्धार नहीं हो सकता-

सेवक- सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।

भजहु राम पद पंकज, अस सिद्धान्त विचारि॥

जो चेतन कहं जड़ करइ, जड़हिं करइ चैतन्य।

अस समर्थ रघुनाथ कहि, भजहिं जीव ते धन्य॥

(7) **प्रेम की अनन्यता-** राम के प्रति तुलसी का प्रेम अनन्य है। राम के अतिरिक्त उनकी आस्था अन्य किसी पर भी नहीं। तुलसी का राम के प्रति यह प्रेम चातक और स्वाति का है। इसीलिए तुलसीदास जी लिखते हैं -

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।

एक राम घनस्याम हित, चातक तुलसीदास॥

भक्ति की अनन्यता में वे इतने तन्मय हैं कि सांसारिक नाते एवं रिश्तों को वे तिलांजलि देने में भी नहीं झिझकते। उनका स्पष्ट कथन है कि रामभक्ति में जो बाधक हैं उन्हें छोड़ देने में जीव को हिचकिचाना नहीं चाहिए -

जाके प्रिय न राम बैदेही।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेही॥

तुलसी सभी सांसारिक सम्बन्धों को तिलांजलि देकर स्वार्थरहित प्रेम करने का जीवमात्र को उपदेश देते हैं -

स्वारथ परमारथ रहित, सीता- राम सनेहु।

तुलसी सो फल चारि कौ, फल हमार मत एहु॥

(8) दैन्य की पराकाष्ठा - तुलसी ने दास्यभाव की जिस पद्धति का निरूपण किया है उसमें दैन्य भाव अर्थात् अपनी दीनता एवं हीनता के बोध की अनिवार्य आवश्यकता पर बल दिया

है, क्योंकि इस प्रकार जब भक्त को अपनी हीनता का बोध हो जाता है तो उसका अहं मिट जाता है। अहं मिटने से ब्रह्म को प्राप्त करने का मार्ग सुगम हो जाता है। इसलिए तुलसीदास अपनी ही हीनता का बखान करते हुए लिखते हैं -

मो सम कौन कुटिल खल कामी।

जेहिं तन दिये ताहि बिसरायो ऐसो नमकहरामी॥

इसी प्रकार तुलसीदास पग- पग पर अपने को नीच, पतित एवं पातकी कहते चलते हैं। अधम एवं कुटिल कहते भी वे नहीं हिचकते। उनके राम ही एकमात्र पूर्ण ब्रह्म हैं। इसलिये वे उन्हीं से सभी प्रकार के सम्बन्धों को जोड़ने का प्रयास करते हैं -

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंजहारी॥

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसों।

मो समान पातकि नहिं, पातकहर तोसों॥

(9) समर्पण की भावना- इस प्रकार तुलसीदास अपने को नीच एवं अधम कहते कहते नहीं अघाते और मन को अकारण ही फटकारते रहते हैं -

विषया परनारि निसा तरुनाई, सुपाई पर यो अनुरागहिं रे।

जमके पहरू दुःख रोग वियोग, विलोकत हूं न विरागहिं रे।

ममता बस तैं सब भूलि गयो, भयो भोर महाभय भागहिं रे।

तुलसी विभिन्न माध्यमों से अपनी निन्दा करते जाते हैं और अपने मन को भयभीत भी करते जाते हैं ताकि वह सांसारिक प्रलोभनों से दूर रहे -

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चहु भाई रे।

नाहिं तो भव बेगारि महं परिहै, छूटत अति कठिनाई रे॥

इस प्रकार अपनी निन्दा करते हुए तथा मन को लौकिक बन्धनों का भय दिखाकर भक्त को पूर्णरूप से अपने को समर्पित कर देना चाहिये -

पाहि राम ! राम पाहि !

रामभद्र रामचन्द्र, सुजस सुवन सुनि आयौ हों सरन।

निष्कर्ष- उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुलसी ने भक्ति मार्ग की ज्ञान मार्ग से श्रेष्ठता प्रतिपादित की है और भक्ति को सर्वजन सुलभ बनाकर दास्य भाव से सगुण साकार राम की उपासना का सन्देश दिया है। संक्षेप में यही तुलसी की भक्ति पद्धति की विशेषताएं हैं।

प्रश्न 18. तुलसी की भाषा का निरूपण कीजिए।

उत्तर- भाषा अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। यह वह माध्यम है जिसके द्वारा कवि अपने मनोगत भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। तुलसीदासजी का काव्य भाषा तथा शैली की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। काव्य भाषा में उचित शब्द प्रयोग, कथ्य के अनुकूल वाक्य-विन्यास, शब्दों का उपयुक्त चयन, अर्थ को ज्यादा प्रेषणीय बनाने के लिए लोकोक्तियों तथा मुहावरों का समुचित प्रयोग, नाद सौंदर्य और चित्रात्मकता तुलसी की भाषा की प्रमुख विशेषताएं हैं। मध्य युग का अन्य कोई कवि भाषा की इतनी बड़ी शक्ति लेकर काव्य के क्षेत्र में अवतीर्ण नहीं हुआ जितने कि तुलसीदासजी। वस्तुतः भाषा पर तुलसीदासजी का अद्‌भुत अधिकार था। उन्होंने अवधी, ब्रज जैसी

भाषाओं में रचना की है। उनकी संपूर्ण रचनाओं में से श्रीकृष्ण गीतावली, कवितावली, विनय पत्रिका, दोहावली, गीतावली तथा वैराग्य संदीपनी ग्रंथ ब्रज भाषा में लिखे गये हैं एवं रामचरितमानस, राम लला नहछू, बरवै रामायण, पार्वती मंगल, जानकीमंगल और रामाज्ञा प्रश्न अवधी भाषा के श्रृंगार हैं। तुलसी की इन दोनों भाषाओं के शब्द भंडार का अध्ययन करने के लिए उन्हें सुविधा की दृष्टि से पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है-संस्कृत शब्दावली, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश शब्दावली, विदेशी शब्दावली, तत्कालीन प्रांतीय शब्दावली और हिन्दी की अन्य बोलियों की शब्दावली।

संस्कृत शब्दावली- यद्यपि तुलसीदासजी ने अवधी और ब्रज भाषा में काव्य रचना की है पर उनकी रचनाओं में संस्कृत की तत्सम शब्दावली भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है। इस शब्दावली के दो रूप हैं। एक रूप तो वह है जहां कवि ने ब्रज और अवधी के शब्दों का प्रयोग करते हुए संस्कृत के शब्दों का प्रयोग किया है और दूसरा वह रूप है जहां पूरे पद संस्कृत में लिखे गये हैं। जहां तुलसीदासजी ने पूरे के पूरे पदों को संस्कृत में लिखा है वहां ऐसा लगता है जैसे वे संस्कृत के आचार्य हों। हर कांड के प्रारंभ में तुलसी ने ऐसी संस्कृत शब्दावली का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ-

"वर्णनामर्थ संघानां रसनां छंदसामपि" अथवा "नमानीशमीशन निवाण रूपं।" इतना ही नहीं कहीं-कहीं संस्कृत की यह पदावली अत्यंत सरल है, तथा कहीं-कहीं अपेक्षाकृत कठिन हो गयी है।

कहने का अभिप्राय यह है कि तुलसीदासजी ने संस्कृत पदावली का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ किया है। इसके अतिरिक्त तुलसीदासजी ने कुछ पदों का निर्माण हिन्दी संस्कृत की मिश्रित पदावली द्वारा किया है तथा उसमें भी संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है जैसे-'विनयपत्रिका' में 'श्री रामचंद्र कृपालु भज मन हरन भवभय दारुनं' या "जयति भरुदंजनामोद मंदिर नतग्रीवसुग्रीव दुखैक बंधो" आदि। तीसरे तुलसी की अन्य ब्रज तथा अवधी की रचनाओं में भी पर्याप्त संस्कृत के तत्सम शब्द मिल जाते हैं, जैसे "भद्रदाता समा", "नौमि श्रीराम सौमित्रि साक", "सुमिरामि नर भूपं रूप", "वल्लभं", "दुर्लभं", "करुनाकरं", "भुवनैकभत्ता, जयति वैराग्य विग्यान-वारांनिधे नौमिजनक सुतावरं, भक्ति वैराग्य विग्यान समादान-दम नाम आधीन साधन अनेक आदि। इस तरह तुलसी के काव्यों में संस्कृत पदावली का व्यवहार स्त्रोत स्तुतियों में तो मिलता ही है, उनके अलावा भी तुलसी ने संस्कृत के तत्सम शब्दों को सबसे अधिक मात्रा में अपनाया है।

पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि की शब्दावली- तुलसीदासजी के काव्यों में पालि, प्राकृत और अपभ्रंश आदि की शब्दावली को भी पर्याप्त महत्व प्राप्त है। डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने लिखा है कि "प्राय: वीर, रौद्र या भयानक रस का निरूपण करते समय तुलसी ने उक्त भाषाओं के शब्दों का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में किया है क्योंकि इन भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों के अंतर्गत द्वित्व वर्णों का प्राधान्य होने से उक्त रसों के लिए ये शब्द बड़े सहायक होते हैं। इसलिए तुलसी ने भट्टा, घट्टा, चमकहि, दमंकहि, कटककट्ट, दपट्टहिं खग्ग, अलुज्झि, जुज्फ, उर्वि, पब्बै, बिद्दरनि, उच्छलित, मर्दि, लक्ख, पक्खर, तिक्खन, अच्छ, कच्छ, विपच्छ, कुंभकरन्न, बोल्लहिं, डोल्लहि, रघुप्पति, दसरथ्य, लक्खन, परब्बत आदि का प्रयोग किया है। इन शब्दों के कारण नाद-सौंदर्य के साथ-साथ ओज गुण एवं रौद्र तथा वीर रस की व्यंजना में बड़ी मदद मिलती है।"

विदेशी भाषाओं के शब्द- तुलसीदासजी ने जिस शब्दावली को अपनाया है उसमें विदेशी शब्दों को भी पर्याप्त अनुराग प्रदान किया गया है। विदेशी शब्दों के अंतर्गत उर्दू तथा फारसी के शब्दों को भी लिया जा सकता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग का कारण न सिर्फ तत्कालीन शासन व्यवस्था थी, वरन् यह भी था कि उस समय ये शब्द दैनिक जीवन में पर्याप्त काम में आते थे। ऐसी स्थिति में तुलसीदासजी ने यदि विदेशी शब्दों को अपना लिया और उन्हें अपनी अभिव्यक्ति की सुविधा के लिए उचित समझा तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। उदाहरण के लिए कुछ शब्द प्रयोग

देखिए-गरुर, गुमान, गनी, गरीब, साहेब, रहम, गरीब निवाज, गरीबी खसम, कलई, सीपर, सवील, जहान, कागज, बख्शीश, रुख, गरदन, ख्वार, शोर, हवाले, खलक, हल्क, कहरी, बहरी, दिरमानी, हबूब, फहम, हलाकी, मिसकीन आदि अनेक अरबी, फारसी एवं तुर्की शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें से कुछ शब्दों में देशी प्रत्यय लगाकर भी इन विदेशी शब्दों का व्यवहार किया गया है। जैसे दग-गाई मिसकीनता, अलायक, सरीकता, हलाकी आदि।

प्रांतीय भाषाओं के शब्द- डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने लिखा है कि तुलसी की रचनाओं में प्रांतीय भाषा की शब्दावली भी देखने को मिलती है। उनके शब्द हैं कि "तुलसी की रचनाओं में उत्तरी भारत में विभिन्न प्रांतों की भाषाओं के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं जैसे-दारु। नारि (गर्दन), म्हाको, मेला, सारयो, पूजि, ठोकि-ठोकि खये राजस्थानी के शब्द मिलते हैं और जून, लाघे (प्राप्त किया) मूकिये (छोड़िये), मोंगी (मीन) आदि शब्द गुजराती के मिलते हैं। ऐसे ही वैसा (बैठा), पारा (सका), खटाई (निभती) आदि शब्द यदि बंगला के मिलते हैं, तो पंवारो, अवकलत आदि शब्द मराठी के भी मिल जाते हैं।"

हिन्दी की अन्य बोलियों के शब्द- तुलसी की भाषा में ब्रज तथा अवधी बोली की शब्दावली का व्यवहार तो पर्याप्त मात्रा में हुआ ही है और पर्याप्त सुंदरता के साथ हुआ है। किन्तु इनके अतिरिक्त हिन्दी की अन्य बोलियों के शब्द भी मिल जाते हैं। ऐसे शब्दों में सरल (सड़ा हुआ), दिहल (दिया) और घायल (दौड़ा), सूतल (सोया) राउर, रावरी, तहवां, लोइ, लोई (लोग) आदि भोजपुरी बोली के शब्द आते हैं, तेरी, मेरी तुम्हारा, हमारा देखो, तपु किया, शरण आया, सोर मचा, लीजिये, कीजिए, गई, देना आदि खड़ी बोली के शब्द प्रयुक्त हुए हैं तथा सुआर, बागत (घूमत हुए) आदि बघेली तथा छत्तीसगढ़ी के शब्द भी मिलते हैं।

पूरबी हिन्दी बोली तथा छत्तीसगढ़ी आदि बोलियों के कुछ शब्द भी गोस्वामी जी ने प्रयुक्त किये हैं। बघेली के 'सुआर' का संकेत पहले ही आ गया है। एक दूसरा शब्द "बागत" लीजिए। बघेल में इसका अर्थ होता है-"घूमते हुए"। गोस्वामीजी ने इसी अर्थ का प्रयोग कई प्रसंगों में किया है। "मानस" में प्रयुक्त 'कुराई' (गढ्ढा) इस समय भी मध्यप्रदेश में प्रचलित है।

भोजपुरी के प्रति भी गोस्वामीजी तटस्थ नहीं थे। फलत: उन्होंने इसे भी सम्मानित किया। 'मानस' हृदय में डुबकी लगाकर यह भी कृतकृत्य हो गयी है। देखिए-'सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल। अस कहि कपि गगन पथ घायल।' 'रौरे और राउर' (आप, आपका) का प्रयोग तो बराबर हुआ है। राम के दरबार में जानें वाली 'पत्रिका' में भी भोजपुरी के 'सरल' (सड़ा हुआ) एवं 'दिहल' के प्रयोग हुए हैं। इसके साथ ही बंगला के कुछ शब्द भी देखिए-'सकाल' (सबेरा), और 'थांको' (ठहराना) का प्रयोग भी बाबाजी ने किया है। देखिए-'अवधेस के द्वारे सकारे गई' रथ समेत रवि थाकेउ निसा कवन विधि होई।

देशज शब्दावली- गोस्वामीजी की भाषा के विशाल कोश में कुछ देशज शब्दों की उपनिधि भी सम्मानपूर्वक रक्षित है। इसी से उनकी रचनाओं में "डोंगरे", "डांग", "गोड़", "पेट", "खोरी", "टाटे", "हिसिषा", "डहकि", "बिसूरना", "लवाई", "ढहोरों", "ढारई", "मीट", "अवढर", "डावर", "कांकर", "जोइनि", "गुडी", "डसाई", "हेरी", "लुकाई", "झारि", "ठट्टा", "ठग", "टहल", "धमोई", "झोपड़ी" आदि अनेक देशज शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द भी बोलचाल में बराबर चलते हैं।

गोस्वामीजी ने ठेठ और तद्भव शब्दों को प्रचलनशीलता के अतिरिक्त इस कारण से भी प्रयुक्त किया है कि उनके द्वारा कहीं-कहीं किसी वस्तु स्थिति, अवसर या व्यक्ति की बड़ी ही नैसर्गिक अभिव्यक्ति होती है। कथन की सत्यता निम्न रेखांकित शब्दों से हो जाएगी-

पानि कठौता मरि लेइ आवा।

× × ×

कंद मूल फलः भरि भरि दोना।

× × ×

आजु दीन्हि विधि बनि भलि मूरी।

× × ×

शब्द शक्तियां- तुलसीदासजी ने अपनी भाषा को अधिक से अधिक आकर्षक तथा प्रेषणीयता से युक्त बनाने के लिए शब्द शक्तियों का प्रयोग भी किया है। लक्षणा और व्यंजना के प्रयोग में भी तुलसीदासजी को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। उदाहरण के लिए-लक्षणा के ये प्रयोग देखिए-'करत गगन को गेंडुआ','जारिकै हीयो','जाहिगें चाटि दिवारी को दीयो','बयो लुनियतु','जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को' आदि पदों में लक्षणा का प्रयोग हुआ है। इसके साथ ही तुलसी में व्यंजना शक्ति का प्रयोग भी अत्यधिक मात्रा मे मिलता है। जैसे-'जेई वाटिका बसति तहं खग मृग तजि तजि भजे पुरातन भौन' अथवा 'स्वांस समीर भेंट भई भौरेहु','तेहि मग पग न धरयो तिहुं पौन' कहकर सीता की विरह विदग्ध दशा की सुंदर व्यंजना की गयी है। ऐसे ही ससि ते सीतल मोको लागै माई री तरनि कहकर तुलसी ने गोपियों की विरहावस्था की मार्मिक व्यंजना की है।

लोकोक्तियां और मुहावरे- लोकोक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग भी तुलसी की भाषा की सफलता का द्योतक है। कहीं-कहीं तो इन्होंने इनका प्रयोग बहुतायत से किया है। ध्यान देने की बात यह है कि तुलसी ने इनके प्रयोग के लिए ज्यादा प्रयत्न नहीं किया है। जहां भी ऐसे प्रयोग आये हैं वहां वे भाषा की प्रेषणीय शक्ति को बढ़ाते हैं। स्पष्टीकरण के लिए-'धोबी कैसो कूकर, न घर को न घाट को','घान को गांव पयार ते जानिय','खाती दीप मालिका ठठाइत सूप हैं','आपने चना चबाह हाथ चाटियत हैं','त्यों-त्यों होइगी गरुई ज्यों-ज्यों कामिरि भीजै','दूध को जरयो पियत फूंकि-फूंकि मह्यो हौ','जस काछिय तस चाहिय नांचा','तसि पूजा चाहिए जस देवता','सूझ जुआरिहि आपन दाऊ','बाजु सुराग कि गांडर तांती','रहत न आरत के चित-चेतु', आदि लोकोक्तियों का प्रयोग मिलता है तथा 'जैहें बारह बाट','कहब जीभ करि दूजि','ठग के से लाडू खाये','पानी भरी खाल है','मुंह लाइ मूंडहि चढ़ी','मीजौ गुरु पीठ','हमहू कहब अब ठकुरसुहाती','गालु बड़ तौरे','खेत के से धोखे','छोटे बदन कहहुं बड़ी बातां','जीवन पाउंन पाछै धारहीं','पुतरो बांधि हैं','पिपीलिकनि पंख लागो','तज्यौ दूध माखी ज्यों','कोढ़ में की खाज','भौतबा भौर को हौ','बूझयो राग बाजी नीति','पाके छत जनु लाग अंगारू','डासत ही गई बीत निसा' आदि अनेक मुहावरों का सुंदर एवं सजीव प्रयोग हुआ है।

अन्य विशेषताएं- तुलसी की भाषा का अध्ययन करने के बाद अब कुछ ऐसी विशेषताओं का उल्लेख भी जरूरी प्रतीत होता है, जिनके कारण उनकी भाषा अधिक मार्मिक, अधिक प्रभावशाली और ज्यादा अर्थयुक्त हो गयी है। ऐसी विशेषताओं में भावानुकूल शब्दों, वर्ण-मैत्री के आधार पर अर्थ चमत्कार की सृष्टि, सहज वाक्य-विन्यास, शब्द चयन की सटीकता, नाद-सौंदर्य और चित्रमयता को लिया जा सकता है। तुलसीदासजी ने जहां विषय की अनुकूल भाषा को समृद्ध किया है वहीं भावानुकूल शब्द सौष्ठव पर भी पर्याप्त ध्यान दिया है। गीतावली में कोमल भावों को ही प्रधानता दी गई है। अतः वहां माधुर्य गुणयुक्त पदावली का प्रयोग अधिक हुआ है। ओज गुणयुक्त पदावली, वीर, रौद्र और वीभत्स रसों के अनुकूल पड़ती है। कवितावली ओज गुण से युक्त रचना है। प्रसाद गुण प्रायः सभी रसों का उपकारक है। मानस में प्रसाद गुण पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। यद्यपि यह सही है कि रामचरित मानस में सभी भाषाओं के गुण मिलते हैं। इसका कारण यही है कि इस काव्य में सभी रसों की निष्पत्ति हुई है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने तुलसी की पद रचना विषयक एक

अन्य विशेषता की ओर भी ध्यान दिलाया है। वे वर्ण-मैत्री के आधार पर अर्थ चमत्कार उत्पन्न करने की बात कहते हैं। उदाहरणार्थ ये पंक्तियां देखिए-

जौ पटतरिए तीय महु सीया। जग अस जुबति कहां कमनीया॥
गिरा मुखर तुन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥

सहज वाक्य विन्यास- **अवधेस के द्वारे सकारे गई, सुत गोद के भूपति लै निकरो।**

-कवितावली

शब्द चयन- **फटिक सिला मृदु विसाल, संकुल सुरतरु तमाल**
ललित लता जाल हरति छबि बितान की।

-गीतावली

नाद सौंदर्य- **कंकन किकिन नूपुर धुनि सुनि।**

-मानस

चित्रमयता- **सुभग सरासन नायक जीरे।**

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कह सकते हैं कि तुलसीदासजी का भाषा पर अचूक अधिकार था। वे अपने काव्य में जहां एक ओर संस्कृत निष्ठ भाषा का प्रयोग करने में सफल हुए हैं, वहीं दूसरी ओर विभिन्न बोलियों के शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने अपनी बहुज्ञता तथा प्रतिभा का परिचय भी दिया है। डॉ. राजपति दीक्षित ने उचित ही लिखा है कि-"सांस्कृतिक समन्वय के अपने महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने अपने युग की दोनों प्रधान भाषाओं की परिधि को बृहत करके उनमें यथा संभव निकटता तथा सामंजस्य स्थापना का कार्य भी बड़ी कुशलता से किया। दोनों भाषाओं को अपना रूप संवारने और संकीर्णता को छोड़ने के निमित्त उनमें परस्पर स्पृहरणीय आदान-प्रदान कराया। इसी से उनकी उत्कृष्ट ब्रजभाषा की रचनाओं में जैसी पूरबी प्रयोग भले तरह आहत हुए हैं वैसे ही अवधी की सर्वोत्कृष्ट कृति 'मानस' में ब्रजभाषा, उसकी विभाषा तथा बोलियों तक के शब्द संस्कृत किये गये हैं। ऐसा करके भी उन्होंने दोनों भाषाओं की मौलिक सत्ता पर, उनकी एकरूपता पर किसी भी प्रकार का कुठाराघात नहीं किया है, यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए।"

गोस्वामी तुलसीदास की समन्वयवादी दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- गोस्वामी जी की भक्ति- पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है- उनकी सर्वांगपूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उसका समन्वय है। न उनका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से, धर्म तो उनका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। योग का भी उसमें समन्वय है, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिए चित्त को एकाग्र करने के लिए।"

तुलसी की समन्वयवादी विशिष्टताओं को हम निम्न प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं -

1. **भाव- क्षेत्र में समन्वय -** तुलसी ने अपने समय के विभिन्न मत- वादों और भावों को समन्यवादी स्वरूप प्रदान किया। वे भावनाएँ तुलसी साहित्य में आकर एकरूप और समान हो गईं।

2. **राम काव्य धारा और कृष्ण काव्य धारा में समन्वय-** तुलसी ने अपनी प्रतिभा से रामकाव्य धारा तथा कृष्ण काव्यधारा में समन्वय स्थापित किया है। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि तुलसी स्वयं राम काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि थे, परन्तु फिर भी कृष्ण जी के चरित्र को लेकर 'कृष्ण गीतावली' की रचना की।

3. **अलंकार योजना में समन्वय-** तुलसी ने अलंकार योजना में समन्वय स्थापित करने के लिए अपने समय में प्रचलित अधिकांश अलंकारों का प्रयोग किया है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने अलंकारों को साधन रूप में अपनाया है, साध्यरूप में नहीं।

4. **भावपक्ष और कलापक्ष-** भावपक्ष और कलापक्ष का समन्वय ही उनकी सफलता का मूलमन्त्र है। तुलसी के काव्य में भावपक्ष जितना सबल है कला पक्ष भी उतना ही सशक्त है वे दोनों का समन्वय करके चलते हैं।

5. **लोक भाषा और संस्कृत का समन्वय-** तुलसी ने अपने समय में प्रचलित ब्रज और अवधी लोकभाषाओं में अपने काव्य की रचना की लेकिन संस्कृत पदावली का व्यवहार कर समन्वय करने का प्रयास किया।

6. **निर्गुण और सगुण का समन्वय-** तुलसी के युग में निर्गुण और सगुण का विवाद जोरों पर था। उन्होंने इस विवाद को यह कह मिटाने का प्रयास किया -

'सगुनहिं अगुनहिं कछु भेदा।

गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥'

उनकी मान्यता है कि राम सभी रूपों में प्रकट होते हैं। वे ही निर्गुण और सगुण, निराकार और सत्कार रूपों में प्रकट हो जाते हैं।

7. **ब्राह्मण और शूद्र-** तुलसीदास अभूतपूर्व समन्वयकारी थे। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए वर्ण भेदों को स्वीकार किया लेकिन भक्ति क्षेत्र में सभी को समान स्वीकार किया। कैसा जबरदस्त समन्वय है वर्ण साम्य का कि वशिष्ठ और भरत भी निषादराज को अपने गले में लगा लेते हैं।

"भेटते भरत ताहि अति प्रीती। लोग सराहि प्रेम के रीती॥"

8. **कर्म, भक्ति और ज्ञान-** इन तीनों का समन्वय ही जीवन में पूर्णता लाता है। तुलसी ने इसी कारण इन तीनों के समन्वय पर बल दिया है।

"प्रीति राम सौं नीति पथ, चलिए राग रिस जीति।

तुलसी सतन के मते, इहैं भगति की रीति॥"

9. **वैष्णव और शैव शक्ति-** तुलसी ने इन सम्प्रदायों के पारस्परिक संघर्ष को देखा और यही कारण है कि इनका समन्वय करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं -

"संकार प्रिय मम द्रोही, मिव द्रोही मम दास।

तो नर करहि कसप भर, घोर नरक महु बास।"

10. **भाग्य और पुरुषार्थ-** तुलसी के युग में कोई भाग्यवाद को प्रधानता देता था कोई पुरुषार्थ को। दोनों को स्वीकार करते हुए उनके समन्वय का प्रयास करते हुए वे लिखते हैं -

"शुद्ध अरु अशुभ करम अनुहारी। ईनु देइ फल हृदय विचारी।

करइ जो करम पाइ फल सोई। निगम नीति असि कह सब कोई॥"

11. **राजा और प्रजा का समन्वय-** तुलसीदास ने रामचरित मानस में राजा और प्रजा के संबंधों का समन्वय करने का प्रयास किया है। उस समय राजभक्त प्रजा धर्म पालन में लगी थी और राम भी अपनी प्रजा को गौरव प्रदान करते थे-

सुनहु सकल पुरजन मत बानी। कहौ न कछु ममता डर आनी।

नहिं अनीति नहिं छु प्रभुताई। सुनहु करहु नो तुम्हें सुहाई।

जो अनीति कछु भारवौ भाई। तौ मौहे बरजहु भय बिरसाई।"

12. **व्यक्ति और परिवार का समन्वय-** तुलसीदास ने पारिवारिक कलहों को दूर करने के लिए व्यक्ति और परिवार का समन्वय किया है। उन्होंने दशरथ, राम, भरत, कौशल्या, सुमित्रा आदि के माध्यम से पारिवारिक जीवन का महत्व आदर्श प्रस्तुत किया है।

13. **नर और नारायण का समन्वय-** तुलसी ने अपने आराध्य को नर और नारायण अर्थात् मानव और ब्रह्म के रूप में चित्रित किया है। इस तरह तुलसी ने नर और नारायण का सम्बन्ध स्थापित किया है। उदाहरण -

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना।

कर बिनु करम करै विधि नाना॥

14. **काव्य रूपों में समन्वय-** तुलसी ने अपने काव्य में रस, ध्वनि, अलंकार रीति और वक्रोक्ति का समन्वय सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक दोनों ही रूपों में किया है।

निष्कर्ष- अन्ततः हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि तुलसी अपने समय के सबसे बड़े समन्वयवादी कवि रहे हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों, में "उनका (तुलसी) सारा काव्य, गृहस्थ व वैराग्य का समन्वय, कला और तत्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय, पाण्डित्य और अपाण्डित्य का समन्वय है। रामचरितमानस शुरू से आखिरी तक समन्वय का काव्य है।"

राजशेखर ने काव्य मीमांसा के अंतर्गत प्रतिभाशाली कवियों के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है-काव्य कवि, शास्त्र कवि तथा उभय कवि। काव्य कवि कवित्व को विशेष महत्व देता है। वह अपने प्रतिपाद्य विषय के उपस्थापन में उक्ति वैचित्र्य का सहारा लेता है। ऐसा करके वह कर्कश और कठोर विषय को भी सरस और रमणीय बना देता है। शास्त्र कवि की दृष्टि सैद्धांतिक निरूपण पर केन्द्रित रहती है। वह काव्य में भी शास्त्र ले आता है। तुलसीदासजी उभय कवि हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में कवि कल्पना, भक्ति दर्शन, उक्ति वैचित्र्य तथा सिद्धांत प्रतिपादन सभी का सुंदर समावेश किया है। तुलसी का काव्य भक्ति रस का सागर है। यद्यपि उन्होंने धर्म-दर्शन तथा भक्ति के सिद्धांतों का ही प्रतिपादन किया पर कहीं-कहीं काव्य-शास्त्रीय सिद्धांतों का निदर्शन भी किया है। रामचरितमानस रूपक में तुलसी ने काव्य के प्रतिपाद्य, रस-ध्वनि, वक्रोक्ति, गुण, अर्थ वैचित्र्य भाव भाषा और वृत्ति आदि का सांकेतिक उल्लेख किया है। तुलसी के काव्य में यत्र-तत्र उनके काव्य सिद्धांत बिखरे-लक्षण, काव्य का शरीर, काव्य की आत्मा, काव्य का प्रयोजन, काव्य का हेतु, काव्य का प्रतिपाद्य, काव्य की भाषा तथा कवि और भावक आदि के संबंध में विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

काव्य सिद्धांत

तुलसी के काव्य-विषयक सिद्धांतों का विवेचन अत्यंत महत्वपूर्ण है, हालांकि तुलसीदासजी ने किसी काव्य शास्त्री की तरह सिद्धांतों का निर्माण नहीं किया था किन्तु यत्र-तत्र कुछ ऐसे संकेत अवश्य दिये हैं जिनके आधार पर उनके काव्य सिद्धांतों को समझा तथा समझाया जा सकता है। उसके काव्य सिद्धांतों का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है-

काव्य लक्षण- तुलसीदासजी ने काव्य रामचरितमानस के प्रथम श्लोक में ही काव्य रचना की पंचसूत्री योजना प्रस्तुत करते हुए काव्य की परिभाषा पेश कर दी है। रामचरितमानस से आया मंगलकारी श्लोक इस प्रकार है-

वर्णनामर्थसंघानां रसानां छंदसामपि।
मंगलाना च कर्तारौ वंदे वाणीविनायकौ॥

उपर्युक्त श्लोक का काव्य-शास्त्रीय अभिप्राय यह है कि काव्य में पांच तत्वों की रमणीय योजना की जानी चाहिए-

(1) *वर्ण अर्थवात भावानुकूल भाषा,*

(2) *अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य आदि)*

(3) *रस (प्रसिद्ध नवरस तथा भक्ति आदि),*

(4) *छंद (भाव एवं परिस्थिति के अनुकूल),*

(5) *मंगल (कवि और भावक दोनों के केन्द्र बिन्दु से)।*

इस तरह तुलसीदास के अनुसार काव्य की परिभाषा हुई "काव्य वह शब्दार्थमयी रचना है जो रसात्मक, छंदोबद्ध और मंगलकारिणी है।" तुलसी के मानस में आये उपर्युक्त श्लोक के आधार पर यह परिभाषा डॉ. उदयभानसिंह ने पेश की है। इस परिभाषा में जो विशेष बात है वह यही है कि तुलसीदासजी ने छंद तथा मंगल का उल्लेख किया है। संस्कृत आचार्यों ने जो काव्य लक्षण प्रस्तुत किये हैं उनमें छंद तथा मंगल का कहीं भी विधान नहीं किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुलसीदासजी ने छंद का समावेश दो कारणों से किया है। एक तो धर्म बुद्धि से और दूसरे काव्य बुद्धि से। सनातनधर्मी होने के कारण और धार्मिक मर्यादा के कारण तुलसीदासजी ने काव्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए मंगल का समावेश किया है। तुलसीदास केवल काव्य नहीं लिख रहे थे अपितु वे चाहते थे कि उनका काव्य सामाजिक कल्याण का विधायक भी हो। स्पष्ट ही तुलसीदासजी ने मंगल विधान में काव्य की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। डॉ. उदयभानसिंह ने लिखा है कि तुलसी की दृष्टि में काव्य की कसौटी दुहरी है। एक रमणीयता की तथा दूसरी श्रेष्ठता की। कविता की रमणीयता रस, ध्वनि और वक्रोक्ति, गुण अलंकार पद-संगठना छंदों-विधान और प्रबंध कल्पना में है। रामचरितमानस की प्रस्तावना में उन्होंने यह बात अनेक स्थलों पर स्पष्ट भी की है। काव्य की श्रेष्ठता और महिमा की एकमात्र कसौटी उसकी लोक कल्याणकारिता भी है। तुलसीदासजी ने एक स्थान पर लिखा है-

कीरति भनिति भूमि भलि सोई, सुरसरि सम सब कहि हित होइ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि तुलसीदासजी के आधार पर वही काव्य महान है जिसकी कलात्मक भाव व्यंजना उत्कृष्ट जीवन दर्शन से युक्त हो।

काव्य का शरीर- सामान्यत: आचार्यों ने काव्य को रमणीय तथा बौद्धगम्य बनाने के लिए काव्य की रचना पुरुष और नारी के रूप में की है। तुलसी भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने सरस्वती को वाणी की अधिष्ठात्री देवी तो मान लिया है पर उसे कविता का उपमान भी बनाया है।

उन्होंने कविता के मानवीकरण के फलस्वरूप उसके शरीर तथा आत्मा या प्राण पर भी विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि "बिधु बदनी सब भांति सवारी, सोह न वसन बिना बर नारी" विश्वनाथ आदि आचार्यों ने काव्य को शब्द रूप माना है। भामह, कुंतक तथा मम्मट आदि का अनुसरण करते हुए तुलसीदासजी ने काव्य को शब्दार्थयुक्त स्वीकार किया है। यह ठीक है कि उन्होंने काव्य कोष या कविता कामनी के शरीर या आत्मा का स्पष्ट रूप से उल्लेख कहीं नहीं किया है किन्तु "वरणानामर्थ संभानाम आदि कहकर उन्होंने दोनों का साथ-साथ उल्लेख करना मान लिया है।" शब्द तथा अर्थ में व्यावहारिक भेद मानते हुए भी वे दोनों में परमार्थ का अभेद मानते हैं। इसलिए उन्होंने लिखा है कि "गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।" पातंजलि आदि मनीषियों ने शब्द तथा अर्थ में नित्य संबंध स्वीकार किया है। राम को विश्वरूप मानने वाले तुलसीदासजी ने जगत के दृश्यमान अनुभूति रूप को मिथ्या माना है। विनय पत्रिका में राम को वाच्य-वाचक रूप कहकर भी तुलसीदासजी ने यही तथ्य स्वीकार किया है कि यह ध्यान देने की बात है कि कालिदासजी ने वाणी और अर्थ में समप्रप्ता स्वीकार की थी पर उसी ने भेदाभेद को माना है।

काव्य की आत्मा- भारतीय काव्य शास्त्र में काव्य की आत्मा के संबंध में पर्याप्त विवाद रहा है। किसी ने रस को काव्य की आत्मा कहा है, किसी ने ध्वनि को, किसी ने रीति को और किसी ने अलंकार को या वक्रोक्ति को। तुलसीदासजी ऐसे नहीं थे, वे समन्वयकारी कलाकार थे तथा समन्वयबादी होते हुए भी वह रसवादी थे। यही कारण है कि काव्य सौंदर्य के लिए उन्होंने रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, गुण आदि सभी काव्यांगों की आवश्यकता पर बल दिया है। उन्होंने मानस के अंतर्गत स्पष्ट रूप से लिखा है कि-

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोषगुन विविध प्रकारा।
धुनि अबरेब कबित गुन जाती। मीन मनोहर ने बहु भांती॥

कविता की सुंदरता के लिए तुलसीदासजी ने कुछ दोषों की योजना भी की है या कुछ दोषों की ओर संकेत भी किया है। काव्य के अंगों में उन्होंने रस को अधिक महत्व दिया है। यह तथ्य रामचरितमानस के प्रथम मंगल श्लोक से भी प्रमाणित हो जाता है तथा निज कवित्व केहि लागन नीका, सरस होउ अथवा अति फीका और जदपि कवित रस एकौ नाहि जैसी पंक्तियों से तुलसी ने यही प्रमाणित किया है कि रस काव्य का प्रमुख तत्व है और इसलिए वही काव्य की आत्मा है। जहां तक रसों की संख्या का प्रश्न है, तुलसीदासजी ने 11 रसों को स्वीकार किया है। वात्सल्य और भक्ति रस दो रसों को मिलाकर कुल 11 रसों की रचना की गयी है।

काव्य प्रयोजन- भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के विविध प्रयोजन बतलाये गये हैं। कुछ प्रमुख प्रयोजन इस तरह हैं-

यश, अर्थ, व्यवहार-ज्ञान, अमंगल निवारण, सद्य-पर निवृत्ति, कांतासम्मित उपदेश चतुवर्ष प्राप्ति आदि। इन प्रयोजनों को दो वर्गों में रखा जा सकता है-कविनिष्ठ प्रयोजन और भावक निष्ठ प्रयोजन। तुलसीदासजी ने इन दोनों ही तरह के प्रयोजनों को महत्व दिया है। दोनों के ही केन्द्र बिन्दु से स्वांतः सुखायः काव्य का मूल प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। तुलसी की दृष्टि से स्वांत सुख ही काव्य का मूल प्रयोजन है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष आदि प्रयोजन उसी की शाखाएं हैं। तुलसीदासजी ने सिर्फ कवि के केन्द्र बिन्दु से ही रामचरितमानस में अपने मूल प्रयोजन को इस प्रकार स्पष्ट किया है-

स्वांतः सुखायः तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबंधु मतिमंजुल मातनोति।

उन्होंने अर्थ, काम और यज्ञ की एषणाओं को मोहमूल तथा नश्वर समझकर उन्हें अपना साध्य नहीं माना। यशः कामना उदात्त मानव की बहुत बड़ी कमजोरी है। भाषा भनिति भोरि मति

मोरी। हंसिवे जोग हंसे नहिं खोरी। जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं सौ श्रम आदि बाल कवि करहीं। आदि पंक्तियों से यशोऽभिलाषा की अस्पष्ट ध्वनि अवश्य प्रतीत होती है, पर बीतराग भक्तिकवि ने प्रयोजन रूप में उसकी निबंधना नहीं की। गौण प्रयोजन के रूप में उन्होंने प्रबोध का उल्लेख किया है-

भाषाबद्ध करबि में सोई। मौरे मन प्रबोध जेहि होई॥
जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहों हिय हरि के प्रेरें॥
निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सरिता तरनी॥

काव्य हेतु- भारतीय आचार्यों ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास को सम्मिलित रूप से काव्य का हेतु स्वीकार किया है। तुलसी भी इसी मत के समर्थक हैं। ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा को तुलसी ने काव्य-रचना के लिए अनिवार्य तत्व माना है। उन्होंने लिखा है-

सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥
जेहि पर कृपा करहिं जनुजानी। कवि गुर अजिर नचावहिं बानी॥
संभु प्रसाद सुमति हिय तुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी॥

व्युत्पत्ति का अर्थ है-बहुज्ञता-विविध शास्त्रों और लोक संबंधी ज्ञान। राजशेखर ने इस संबंध में अलग ही मत प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार उचित-अनुचित का विवेक ही व्युत्पत्ति है। जहाँ तक तुलसी का संबंध है वे दोनों मतों को मानते प्रतीत होते हैं। उन्होंने लिखा है-

कवि न होऊं नहिं वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
कवित्त विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहहुं लिखि कागद कोरे॥

वस्तुत: काव्य- सर्जना के लिए प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों ही अनिवार्य हैं। तुलसीदास ने भी दोनों को समान महत्व दिया है। ठीक भी है "अभ्यास से काव्य का परिष्कार होता है। प्रथम प्रयास से कोई कवि महाकवि नहीं बन जाता है। यह सतत प्रयास या अभ्यास है जिससे एक कवि क्रमश: ऊपर उठता जाता है तथा एक समय ऐसा आता है जब वह कवियों की श्रेणी में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त करता है।"

प्रतिपाद्य विषय- तुलसीदास ने कविता के प्रतिपाद्य विषय के संबंध में जो सिद्धांत प्रतिपादित किया है उससे सामान्यत: सहमत होना कठिन है। तुलसी ने तो राम विषयक वृत्त को ही महान और महत्वपूर्ण माना है। जब वे कहते हैं कि "सब गुन रहित कुकवि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी" तो यही मत व्यक्त करते हैं। इतना ही क्यों उन्होंने तो यह भी लिखा है-

प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहिं सुजन मन भावनी॥
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥

तुलसी का तो यह दृढ़ विश्वास था कि सुकवियों की विचित्र रचना भी राम नाम से रहित होने पर सर्वश्रृंगारवती नग्न सुंदरी की भांति शोभा प्राप्त नहीं होती है। उनके शब्द हैं-

भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम-नाम बिनु सोइ न सोऊ॥
विधुवदनी सब भांति संवारी। सोह न वसन बिना वर नारी॥
राम नाम बिनु गिरा न लोहा। देखु विचारि त्यागि मद मोहा॥
वसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूवन भूषित वर नारी॥

काव्य की भाषा- तुलसी के युग में लोक-भाषा की कविता विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय नहीं थी। केशव ने अपने को भेदमति तक कहा था। "भाषा-भनिति" 'भनिति-भदेस। और 'गिरा-ग्राम्य' आदि उक्तियों द्वारा तुलसीदास ने युग की भाषा विषयक इस भावना का संकेत किया

है। तुलसी ने काव्य-सृजन के लिए संस्कृत भाषा की अनिवार्यता पर कभी बल नहीं दिया। उनका भाषा विषयक आदर्श तो यह था कि "यदि कवि में भाव की सच्चाई है तो वह लोक भाषा में भी सरस रचना कर सकता है।"

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहियतु सांच।

काव्य की लोकप्रियता के लिए भाषा की सरलता अपेक्षित है-

सरल कवित्त कीरति विमल सोइ आदरहि सुजान।

कवि और भावक- काव्य सिद्धांतों के संदर्भ से अनेक बार कवि तथा भावक का प्रश्न भी उठाया जाता है। प्रश्न यह है कि क्या कवि भावक और भावक कवि हो सकता है अथवा क्या एक ही व्यक्ति में कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा दोनों का समुचित विकास संभव है? इस संबंध में अनेक आचार्यों ने दोनों में एकता स्वीकार की है पर कालिदास इसे नहीं मानते हैं। तुलसी का भी यही मत है। तुलसी ने यह भी माना है कि कवि को अपनी रचना से रसानुभूति नहीं होती है। स्वांत: सुखाय से यही अभिप्राय है। काव्य को तुलसी ने मानसी रचना स्वीकार किया है। काव्य रूपों में तुलसी ने प्रबंधकाव्य को सर्वोपरि स्थान दिया है।

निष्कर्ष- उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कह सकते हैं कि तुलसी एक प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने जो लिखा वह उनकी मानसी, मंगलकारणी तथा प्रतिभामयी सृष्टि है। वे काव्यशास्त्री तो नहीं थे, किन्तु फिर भी उनके काव्य में कहीं प्रत्यक्ष और कहीं अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनमें उनके काव्य-सिद्धांतों पर प्रकाश पड़ता है।

इकाई-चार

विद्यापति

विद्यापति के काव्य

ओज गुण- शब्द योजना भाव लोक के निकट है तथा बिम्ब भी सारगर्भित अर्थ लिए है। उनकी भाषा ओज गुण से परिपूर्ण है तथा राजसी भावों का सजीव चित्रण करती है।

प्रसाद गुण- साधारण प्रसंगों, कथा वर्णनों आदि में प्रसादयुक्त शब्दावली का प्रयोग किया गया है जिसमें न समाप्त है और न ही कर्ण कटु शब्द व संयुक्ताक्षर-

नन्दक नंदन कदम्ब क तरू पर,
धिरे धिरे मुरलि बजाव।
समय संकेत-निकेतन बइसल,
बेरि-बेरि बोल पठाव॥

माधुर्य गुण- माधुर्य व प्रसाद लाने के लिए कवि शब्दों को सघोष से अघोष और महाप्राण से अल्पप्राण कर लेते हैं- धिरे-धिरे, अनुखन, उद्वेगल, मुरछाइल आदि शब्द इसी के उदाहरण हैं। शब्दों की द्विरुक्ति, सानुप्रासिकता, सानुनासिकता से माधुर्य की सृष्टि की गयी है।

व्यंजना शक्ति- कवि की भाषा ध्वनि व व्यंग को आप्लावित करती है। इन विशेषताओं से चमत्कार पैदा होता है तथा नायिका-नायक की आपसी नोंकझोंक को सजीवता प्राप्त होती है-

कर धरू करू मोहे पारे,
देव मैं अपुरव हारे कन्हैया।
सखि सब तजि चलि गेली,
न जानू कौन पथ मेली कन्हैया।
हत न जाएब तुअ पासे,
जाएब औघट घाटे, कन्हैया।

इन पंक्तियों में नायिका नायक को व्यंग्य के माध्यम से कामासक्त कर रही है, वह कहती है कि मैं निपट अकेली हूँ और विलम्ब होने पर पथ अज्ञात होने का बहाना भी चल जायेगा, अत: मेरे हाथ नि:संकोच थाम लो। मैं आज तुम्हें गलबहियों का अनुपम हार प्रदान करूंगी।

लक्षणा शक्ति- उपरोक्त उदाहरण में 'अपुरव हारे' में लक्षणा शक्ति से उपलब्ध लक्ष्यार्थ हमें व्यंग्य के अर्थ के पूर्ण लक्ष्य के समीप ले जाता है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का इस प्रकार परस्परावलम्बी प्रयोग समूचे हिन्दी साहित्य में यदा-कदा ही मिलता है। उनके पदों में वाक्यों के अर्थ बाधित हों अथवा नहीं, लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ ही उनके प्रमुख लक्षण हैं। यहाँ दो अर्थ हैं प्रथम आसक्ति पक्ष द्वितीय भक्ति पक्ष। दोनों ही पक्षों में व्यंग्य समाहित है।

विद्यापति की अलंकार-योजना

अलंकार-योजना- विद्यापति मूलत: श्रृंगारिक कवि हैं। श्रृंगार कविता में अलंकार प्रचुरता से समाविष्ट रहता है। उन्होंने अलंकार योजना के द्वारा अपनी रचनाओं को शिल्प विधान की दृष्टि से उल्लेखनीय बनाया है। सभी अलंकार उनकी पदावली में सहज ही दृष्टिगोचर होते है। यथा-

अनुप्रास– **कमल मिलल दल मधुप चलत घर,**
बिहग गहल निज ठामे।

यमक – **सारंग नयन, वमन पुनि सारंग सारंग तसु समधाने,**
सारंग उपर उगल दस पारंग, केलि करिथ मधु पाने।

उपरोक्त विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि भाषा, शब्द शक्ति, गुण, प्रतीक, बिम्ब, अलंकार योजना, नाद-सौन्दर्य व छन्द विधान में पारंगत होने पर भी उन्होंने किसी भी तत्व को काव्य की आत्मा 'रस' पर कृत्रिम रूप से आरोपण कर दुराग्रहपूर्ण अति का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। काव्य उनके लिए अन्य कृतियों में साधन भले ही रहा हो किन्तु पदावली में साध्य ही था। लोकानुरंजन ही उनके कृतित्व में विशेष रूप से सजीव हो उठता है। उनकी रचनाएं न तो गम्भीरता के अथाह सागर की भाँति दुरुह व अगम्य हैं न ही भावना लोक में मुक्त विचरती हैं। उनके सम्पूर्ण सृजन पर दृष्टिपात किया जाये तो स्पष्ट होगा कि उनका काव्य मानवीय संवेदनायुक्त व संगीत-सौन्दर्य व लोक नृत्यों का अनूठा संगम है।

विद्यापति की प्रतीक व बिम्ब योजना

बिम्बात्मकता व प्रतीकात्मकता उनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। इसी शिल्प गुण का निर्वाह करते हुए वह विभिन्न भावों को उद्घाटित करने हेतु प्रतीक-प्रद्धति का प्रयोग करते हैं।

कंचन ज्योति कुसुम परकास,
रतन फलव बेलि बढ़ाओल आस।
तकर भूले देल दूधक धार,
फले किछुन हेरिए झनझनिसार॥

उपरोक्त उद्धरण में कंचन-कुसुम, पानि दूधेक, रतन आदि शब्द प्रेम, अभिलाषा व भोग-विलास के प्रतीक बन गये हैं। वह अपनी सूक्ष्म कल्पना से विशेष पदार्थों को इस प्रकार अभिलष करते हैं कि बिम्ब सशक्त बनकर उभरता है। रूप चित्रण में वातावरण व देह सम्बन्धी सौन्दर्य का अवलम्बन करते हैं। शब्द योजना से अनुभूति साकार हो जाती है। वह भाव-आयोजन व रूप चित्रण दोनों के द्वारा बिम्ब की सृष्टि करते हैं।

विद्यापति के गीतिकाव्य

विद्यापति के गीतिकाव्य की विशेषतायें- (1) डॉ. जगन्नाथ नलिन ने कहा है कि - विद्यापति पदावली मूर्च्छना भरे संगीत की रंगस्थली है एवं आत्मविस्मृत कर देने वाली अनूभूतियों का साधना मंदिर है। (2)विद्यापति के गीतों की परख के लिए- निम्नांकित तत्वों पर ध्यान जरूरी है- (i) गेयता (ii)भाव प्रसार, (iii)प्रभाव सीमा।

(i)**गेयता-** विद्यापति के गीत पूर्णतया गीतात्मक हैं। उनमें अपेक्षाकृत लय एवं स्वरताल है। उन्होंने कोमल कांत पदावली को मुख्यता प्रदान की है। जैसे-

अपूरब के बीहि, आनि मालाजोल, लावनिसार।

नाद सौन्दर्य के लिए उन्होंने सानुप्रास पदावली, शब्दों की पुनरुचि एवं गुण या क्रिया से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग किया है यथा- जयजय, भैरवी, असुर, भयाउनि, पशुपति, भामिनी, माया

(ii) **भाव-प्रसार**- विद्यापति की पदावली अपरिमित है। एक ओर उनके गीत भक्तिभाव की सात्विकता लिये हुए हैं दूसरी ओर श्रृंगार की माधुरी से मंडित हैं। एक ओर वीर भाव की ओजस्विता है, तो दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण कौतूहल। दीनतापूर्वक आराध्य के चरणों में आत्म समर्पण सर्वत्र विद्यमान है। वे चाहे शिव की या दुर्गा मैया की शक्ति में तल्लीन हो आत्मसमर्पण सर्वत्र विद्यमान रहता है।

(iii) **प्रभाव-सीमा** (1) विद्यापति के गीतों की प्रभाव-सीमा विस्तृत है। विद्यापति के गीतों ने भक्त कीर्तनीय साधु, जीवन में लिप्त भोगी, विरक्त वैरागी, क्या नर क्या नारी सभी को प्रभावित किया है। (2) मिथिला के लोकमानस में उनके गीतों का प्राचुर्य उसकी प्रभाव-सीमा के कारण है। (3) विद्यापति की गीति गंगा महाप्रभु चैतन्य से आत्मविस्मृति के लोक में ले जाने की अपूर्व क्षमता रखती थी।

विद्यापति एवं उनके भक्त का सूत्रपात

(1) *'विद्यापति के पद लगभग सबके सब वैष्णव पद या भजन हैं। जिस प्रकार सोलोमान के गीतो को ईसाई पादरी पढ़ा करते हैं उसी प्रकार भक्त हिन्दू विद्यापति के चमत्कारिक पदों को पढ़ते हैं एवं जग की काम वासना का अनुभव नहीं करते।'(ग्रियर्सन)*

(2) *'विद्यापति की राधा-कृष्ण पदावली का सार यही है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रही है और एकान्त स्थान में परमात्मा से मिलने के लिए चिंतित है (नगेन्द्र नाथ गुप्त)*

(3) *हिन्दी में वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि प्रसिद्ध मैथिल कोकिल विद्यापति हुए। उनकी रचनायें राधा एवं कृष्ण के पवित्र प्रेम से ओतप्रोत हैं। (डॉ. श्याम सुन्दर दास)*

(4) *विद्यापति अपने को पत्नी समझकर ईश्वर (कृष्ण) की उपासना पति के रूप में करते थे।*

विद्यापति का प्रतिपाद्य श्रृंगार

(1) विद्यापति ने कीर्तिपताका में कहा है राम को सीता की विरह वेदना सहनी पड़ी अत: उन्हें काम-कला में चतुर अनेक स्त्रियों के साथ रहने की उत्कट अभिलाषा हुई। इसी कारण उन्होंने कृष्णावतार को लेकर गोपियों के साथ अनेक प्रकार के विहार किये।

(2) वे कबीर की भांति रहस्यवादी भक्त या सन्त नहीं थे। राधा-कृष्ण विषयक उनकी दृष्टि नायक नायिका मात्र है।

(3) विद्यापति महाकवि कालिदास व पं. जगन्नाथ की भाँति चोट खाए हुए थे। उनके हृदय में चिर काल से विरह वेदना विद्यमान थी। अत: उन्होंने प्रेम का कलह-कोलाहल मचाकर अतृप्त का अनुभव किया था।

(4) विद्यापति का रानी लखिमा देवी से गुप्त एवं अनंत प्रेम था एवं दरबार में अनेक रानियों के सम्पर्क में आये थे। जब तक वे लौकिक प्रेम में न रंगते तब तक उनका दरबार में बना रहा असम्भव था।

(5) यदि विद्यापति भक्त थे तो उन्हें दरबारों के विलासपूर्ण वातावरण में जाना नहीं चाहिए था।

(6) राज्याश्रित होने के कारण ही उन्हें आश्रयदाताओं एवं बादशाहों के संकेत एवं फरमाइश पर सद्यस्नाताओं के चित्र खींचने पड़े।

(7) विद्यापति एक ओर राधा एवं कृष्ण की रति-क्रीडाओं के चित्र खींचते हैं तो दूसरी ओर राजा रानी का रतिभाव चित्रित करते हैं।

यथा— ताह पर नाहर, हम पर नारी, कपि हृदय तुम प्रकृति विचारी।

मनहि विद्यापिता ग्राये, राजा शिवसिंह रूपनारायण, इह रस सकल से पाये।

विद्यापति के श्रृंगारत्व का वर्णन

विद्यापति के काव्य का प्रधान रस श्रृंगार है। उन्होंने श्रृंगार के दोनों पक्ष-संयोग तथा वियोग का निरूपण बहुत मार्मिक ढंग से अपने काव्य में किया है। उन्होंने संयोग श्रृंगार का चित्रण वियोग श्रृंगार की अपेक्षा ज्यादा किया है। ऐसा लगता है कि उनकी रुचि संयोग पक्ष के वर्णन में ज्यादा रमी है। वियोग पक्ष का वर्णन उन्होंने न्यून मात्रा में किया है पर वह भी मार्मिक है। विद्यापति की पदावली में श्रृंगार अपने चरम शिखर पर, पूर्ण परिपाक पर पहुंचा है, पर उसमें भी विद्यापति का नायिका-निरूपण प्रधान है।

श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है। प्रिय वस्तु में मन के प्रेम-प्रेरित होकर उन्मुख होने की भावना रति कहलाती है। श्रृंगार के स्थायी भाव के रूप में रति वह भावना, अनुभूति अथवा कामना है जिसके वशीभूत होकर नायक-नायिका शारीरिक अथवा इंद्रियसुख का उपभोग करना चाहते हैं। श्रृंगार रस में कामभाव अथवा मादनभाव प्रमुख होता है। उसका आलंबन विभाव नायिका है तो आश्रय नायक। एकांत स्थान, चांदनी रात, उपवन, नदी-तट, रूप-सौंदर्य उद्दीपन हैं, तो प्रेम से देखना, मुस्कराना, मधुर भाषण आदि अनुभाव हैं। इसमें हर्ष, लज्जा, ग्लानि, चिंता आदि संचारी भाव हैं। विद्यापति की पदावली में श्रृंगार रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

विद्यापति के काव्य में अभिव्यंजना

विद्यापति के पदों में आत्माभिव्यंजना परोक्ष रूप से ही हुई है। सम्पूर्ण 'पदावली' के भाव एक ही व्यक्तित्व की अप्रत्यक्ष अभिव्यंजना हैं। राधा तथा कृष्ण के मधुर मिलन में एवं उनकी प्रेम जन्य विविध क्रीड़ाओं एवं चेष्टाओं में कवि की आत्मभावना मुखरित हुई है। राधा के नखशिख वर्णन में कवि की सौन्दर्य-भावना जिस आवेग तथा आवेश से व्यक्त हुई है, इसे देखकर यह सम्भावना

ही नहीं की जा सकती है कि कवि किसी तटस्थ दर्शक की भाँति उसका अवलोकन करके वर्णन कर रहा है, अथवा कल्पना के कगार पर खड़ा होकर सिर्फ काव्य शास्त्रीय परम्पराओं का निर्वाह कर रहा है। यह सच है कि सौन्दर्यानुभूति को व्यक्त करने वाले उपमान शास्त्र-सम्मत हैं पर यह भी सच है कि वे कवि की हार्दिकता से भी सम्प्रक्त हैं। तभी तो कवि राधा के अनुपम सौन्दर्य के इतने अधिक और मार्मिक चित्र प्रस्तुत करने में सफल हो सका है। इन चित्रों में यथावसर कवि की भावना की विशालता तथा हृदय की विशालता भी सम्प्रक्त बनी दृष्टिगोचर होती है। यथा-

जहाँ-जहाँ पग-जुग धरई। तहीं-तहीं सरोरूह भरई।
जहाँ-जहाँ झलकत अंग। तहीं-तहीं बिजुरि तरंग।

जायसी

जायसी के विरह वर्णन

भारतीय काव्य शास्त्र की दृष्टि से विप्रलम्भ श्रृंगाल पाँच प्रकार का माना गया है 1. अभिलाषा मूलक विरह 2. ईर्ष्या मूलक विरह 3. वियोग मूलक विरह 4. प्रवास मूलक विरह 5. शाप मूलक विरह। इनके प्रकारों में अभिलाषा मूलक विरह वर्णन 'पद्मावती वियोग खण्ड' में पद्मावती के विरह में लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त वियोग मूलक विरह, ईर्ष्या मूलक विरह और प्रवास मूलक विरह वर्णन नागमति की विप्रलम्भ अवस्था में देखने को मिलता है। इसके साथ ही अवस्था के आधार पर पूर्वराग, प्रवास और करुणा जैसे विरह के प्रकारों का निरूपण भी नागमति तथा पद्मावती के विरह में दृष्टिगोचर होता है। अभिप्राय यह है कि जायसी के काव्य में विरह-मूलक विप्रलम्भ श्रृंगार के सभी प्रकारों का समावेश मिलता है।

जायसी के भावनात्मक रहस्यवाद

सूफी परम्परा के कवियों में भी इस रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। जायसी भारतवर्ष के कवि हैं। इस सम्बन्ध में डा. वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने कहा है - 'जायसी सच्चे पृथ्वी पुत्र थे, वे भारतीय जनमानस के कितने निकट थे, इस दूरी की कल्पना करना कठिन है। गांव में रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी सीमा के हर्षित स्वर में कवि ने अपने गान का स्वर ऊँचा किया है। जनता की उक्तियां, भावनाएँ मानों स्वयं छन्द में बंधकर उनके काव्य में गुन्थ गयी हैं।' यही कारण है कि उन्होंने विविध प्रकृति व्यापारों में उस अपूर्व सत्ता का आभास किया। पद्मावती के सौन्दर्य व दीप्ति के द्वारा उस अव्यक्त व अगोचर सत्ता की ओर संकेत दिया -

'रवि ससि नखत दिपवि ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।
ऊह जह विहसि सुभावहि इसी, तह-तह छिटकि जोति परगसी।।'

इतना ही नहीं जायसी ने - **'जेइ बह पाई छांह अनूपा,**
फिरि नहिं आइ सहे यह धूपा।'

कह कर उस विराट सत्ता को अनुपम छाया से युक्त बताया है।

सूफी मत के अनुसार गुरु का महत्व है, वह शिष्य के हृदय में उस परमात्मा के प्रति विरह की चिंगारी को जलाता है। उस तक पहुंचने का मार्ग बतलाता है -

'को गुरु कगुया होई सखि, मोहि लावै मग मांह।
तन मन धन बलि-बलि, करो जोर मिला नांह।'

जायसी ने अपने रहस्यवाद में आत्मा-परमात्मा के आध्यात्मिक मिलन का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है -

'जस किछु देई धरै आपन लेइ संभारि।
तस सिंगार सब लीन्सेहि मोहि केन्हेसि ठठियारि॥'

इस रूप में प्रकृति के सुखदायी और दुखदायी दोनों रूपों का चित्रण हुआ है। रत्नसेन और पद्मावती के मिलनकाल में प्रकृति, दोनों के हृदय सुखद भावनाओं का संचार करती दिखाई देती हैं-

पद्मावती चाहत ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सौहाई।
चमकि बीजु बरसै जल सीना। दादुर मोर सबइ सुठि लोना॥
रंग राती पीतम संगी जागी। गरजै गगन चौंकि गर लागी॥
सीतल बूँद ऊँच चौवारा। हरिअर जब देखहिं संसारा॥

वहीं यही प्रकृति वियोग काल में पीड़ादायक भी है। विरह-व्यथित नागमती के मन में प्रकृति सुखद भावों को उद्दीप्त करती हुई उसे पीड़ा प्रदान कर रही है-

खड़ग बीज चमकें चहुँ ओरा। बुंदबान बरसहिं घन घोरा॥
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत! उबारू मदन हौं घेरी॥
दादुर मोर कोकिला पीऊ। गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ॥

इन सभी स्थलों का अवलोकन करने के बाद यह स्पष्ट हो सकेगा कि सबसे अधिक विस्तार के साथ जायसी ने पद्मावती के रूप का वर्णन किया है। यह स्वाभाविक भी था? सूफी धर्म प्रेम प्रधान है और डॉ. शंभुनाथ सिंह की मान्यता है, प्रेम वहीं होगा जहाँ रूप होगा। जायसी ने 'पद्मावत' में पद्मावती के सौंदर्य का जो इतने अधिक विस्तार के साथ तथा मनोयोग के साथ वर्णन किया है, उसका मुख्य रहस्य यही है। साथ ही जायसी ने लौकिक प्रेम की व्यंजना के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना करते हुए पद्मावती को जिस अलौकिक सत्ता के रूप में देखा है, उसका भी प्रभाव जायसी के सौंदर्य वर्णन पर है। यह तथ्य भी विशेष उल्लेखनीय है कि पद्मावती का सौंदर्य लौकिक और अलौकिक दोनों है। 'नख-शिख वर्णन' में जहाँ यह पूर्णत: लौकिक रहा है, वहीं मान सरोदक खंड में उसकी आभा कण-कण में व्याप्त दिखाकर जायसी ने उसे अलौकिकता प्रदान कर दी है-जहाँ प्रकृति के तत्व भी उसके रूप पर आसक्त हो उठे हैं-

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होई छावा।
गा अंधियार रैन मसि छूटि। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥

जायसी की अवधी भाषा लोक जीवन में व्यवहृत होने वाले सहज रूप के अधिक निकट है। इसमें लोकोक्तियों के पदे-पदे दर्शन होते हैं। प्रयुक्त शब्दावली में तद्भव और देशज शब्दों का बाहुल्य है। जायसी की काव्य भाषा पर प्रशंसात्मक-टिप्पणी करते हुए डॉ. शिवसहाय पाठक ने निम्नांकित मत व्यक्त किया है-

"लोक भाषा का जायसी जैसा पुष्ट और सार्थक प्रयोग हिन्दी के किसी कवि ने नहीं किया है। प्राय: सभी श्रेष्ठ कवि संस्कृतनिष्ठ भाषा, संस्कृत पदावली और संस्कृत काव्यशास्त्र का पद-पद पर आश्रय लेते हैं, किन्तु धरती पर प्रवाहित होने वाली सर्वसुलभ सामान्य लोक-भाषा की जन-गंगा

को काव्य-तीर्थ के छाया तले लाने का भागीरथ प्रयत्न किसी श्रेष्ठ कवि ने नहीं किया। इस दृष्टि से जायसी की भाषा का बड़ा महत्व है।"

जायसी की अलंकार-योजना

जायसी ने अलंकार-योजना में पर्याप्त रुचि ली है। किन्तु यह बात ध्यान में रहे कि जायसी के अलंकार बड़े सहज हैं और रस-पोषक होकर प्रयुक्त हुए हैं। डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना की निम्न मान्यता इस संबंध में जायसी की विशेषताओं को रेखांकित करती है-

"जायसी ने विविध प्रकार के अलंकारों का प्रयोग करके अपने भावों एवं अभिव्यक्ति को अधिकाधिक रोचक, मनोरंजन और चित्ताकर्षक बनाने का सुंदर प्रयास किया है। इतना अवश्य है कि जहाँ कवि मुद्रा अलंकार के चक्कर में पड़कर व्यर्थ अप्रस्तुत अर्थ लाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है, वहाँ उसकी अभिव्यक्ति अरुचिकर हो गई है और भावों का सौंदर्य बिखर गया है। ऐसे ही जहाँ कवि व्यर्थ ही श्लेष के चक्कर में पड़कर द्वयर्थक शब्दों के चुनने में तल्लीन हो गया है, वहाँ पर पांडित्य तो अवश्य विद्यमान हैं, किन्तु स्वाभाविकता एवं सरसता का हास हो गया है। शेष सादृश्यमूलक, विरोधमूलक आदि अलंकारों के कारण तो 'पद्मावत' में अधिकाधिक मार्मिकता, सजीवता एवं प्रभावोत्पादकता की सृष्टि हुई है। अतएव जायसी का अलंकार-विधान चमत्कार-प्रधान होते हुए भी सरस एवं मार्मिक है।"

जायसी की "बिम्ब योजना"

जायसी ने अपने आस-पास के जीवन के बिम्ब, प्रकृति के उपादानों के बड़े सार्थक बिम्बों की सृष्टि की है। उनके बिम्बों द्वारा भाव, विचार और क्रिया-व्यापारों के चित्र बड़े मार्मिक बन पड़े हैं। इन बिम्बों की योजना कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण बुद्धि के परिचायक हैं। जल, स्थल, आकाश, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, रत्न-पदार्थ, सूर्य-चंद्र, तारागण, ऋतु, वनस्पति, मानव जीवन के उपयोगी उपकरण, खेल-कूद, खान-पान, अस्त्र-शस्त्र, शिल्पकला, राजकाज आदि के विविध पक्षों को उजागर करने वाले बिम्बों की योजना करके जायसी ने अपने कथ्य को अत्यंत सजीव रूप में अंकित कर दिया है। उनके बिम्ब सर्वत्र बड़े सशक्त एवं संश्लिष्ट बन पड़े हैं। मानसरोदक खंड में सरोवर में जल क्रीड़ा करती पद्मावती और उसकी सखियों के क्रमशः घर से चलती पद्मावती, सखियों से बतियाती पद्मावती, सरोवर के पार पर खड़ी पद्मावती, सरोवर में प्रवेश करती पद्मावती, अंत में सरोवर की दशा सुधारती पद्मावती के बड़े भव्य बिम्ब उभारे गए हैं।

जायसी की "छंद योजना"

पद्मावत में जायसी ने आद्योपांत दोहा, चौपाई छंद ही रखा है। चौपाई छंद की भी ऐसी योजना की गयी है कि सात अर्द्धावलियों के बाद एक दोहा दिया गया है। दोनों ही छंदों पर जायसी का बड़ा असाधारण अधिकार प्रतीत होता है। प्रबंधत्व का निर्वाह करने में, रस-निष्पत्ति करने में ये छंद अत्यंत सफल रहे हैं।

दोनों में तो जायसी ने अपने प्राण उड़ेल कर रख दिये हैं। फिर जिन दोहों में मुहम्मद (कवि का नाम) आया है वे दोहे तो अत्यंत मार्मिक बन पड़े हैं।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने महाकाव्य-रामचरितमानस में प्रमुखतया ये ही दोनों छंद रखे हैं, जो इस बात के परिचायक हैं कि प्रबंध काव्य के लिए ये दोनों छंद अत्यंत उपयुक्त ठहरते हैं।

मीराबाई

मीराबाई का जन्म जोधपुर के कुडको ग्राम में सन् 1503 में हुआ। उनका विवाह 1516 में राणा सांगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ। 1527 में उनके पति मारे गए तथा उन्होंने साधु संगति की 1533 में मीरा ने चित्तौड़ त्यागा और वे ब्रज की तीर्थयात्रा पर चल पड़ीं। 1539 में वे तुलसीदास से मिली फिर द्वारिका चली गई। यहां संतों के संपर्क से विभोगानुभूति का विकास हुआ एवं भजन लिखने लगीं। वे रणछोड़ की मूर्ति के आगे नर्तन करने लगीं। 1573 में उनका देहांत हो गया।

मीरा की रचनाओं के संबंध में विद्वानों के मतों में एकता नहीं है। 'राजपुताने में हिन्दी पुस्तकों की खोज' के अंतर्गत मीरा का निम्नलिखित चार रचनाओं को स्वीकार किया गया है- 1. गीत-गोविंद का टीका, 2. नरसी जी का माहरो, 3. फुटकल पद, 4. राग सोरठा संग्रह।

पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने उपर्युक्त पुस्तकों के अतिरिक्त 'राग गोविंद' और 'मीरा की मल्हार' नामक दो पुस्तकों का उल्लेख किया है। अब तक प्राप्त खोजों के आधार पर मीरा की रचनाएं निम्न प्रकार कही जाती हैं- 1. गीत-गोविन्द का टीका, 2. नरसीजी का माहरो, 3. फुटकल पद, 4. राग सोरठपद संग्रह, 5. राग-गोविन्द, 6. मीरा की मल्हार, 7. गर्वा गीत, 8. मीरा की पदावली।

मीरा पदावली

मीरा के पदों के अब तक कई संग्रह निकल चुके हैं। किन्तु सभी में पद संख्या पृथक-पृथक है। बंगाल के श्री कृष्णनंद देव व्यास द्वारा 'राग-कल्प-प्रेम' नाम से मीरा के पदों का सबसे पहला संग्रह 'मीराबाई-भजन' नाम से 'नवलकिशोर प्रेस' लखनऊ से प्रकाशित हुआ। इसके प्राय: सभी पदों की प्रामाणिकता संदिग्ध है। इसके पश्चात् भी मीरा के पदों के संग्रह प्रकाशित हुए, जिनके नाम और उन पदों की व्याख्या निम्न प्रकार हैं-

1. मीरा जीवनी और काव्यपद संख्या 108
2. मीरा की प्रेम-साधनापद संख्या 216
3. मीरा स्मृति-ग्रंथपद संख्या 103
4. मीराबाई की पदावलीपद संख्या 202
5. मीरा-वृहद पद संग्रहपद संख्या 590

पदों की इन विभिन्न संख्याओं को देखकर मीरा के प्रामाणिक पदों का संग्रह करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। आज हिन्दी-साहित्य में मीरा के प्रामाणिक पदों की आवश्यकता बहुत बढ़ गई है। वे प्रेम दीवानी भक्त ही नहीं अपितु मूर्धन्य कवियित्री थी थीं।

मीरा के काव्य

मीरा की भाषा में राजस्थानी, ब्रज, गुजराती तथा पंजाबी का प्रयोग है। उसमें संगीतात्मकता है वह लोचयुक्त, संयुक्त शब्दों से एक है, कहीं विकृत प्रयोग है। उनमें एक शुद्ध के स्थान पर दूसरा शब्द, अनुस्वार युक्त दीर्घ स्वरों का प्रयोग है।

अलंकारों का प्रयोग- मीरा के काव्य में अलंकारों का भी अधिक प्रयोग नहीं हुआ है क्योंकि मीरा का काव्य भावों का उमड़ता हुआ सागर है। अलंकार-योजना भावों को उत्कर्ष करने में सहायक है।

छंद-योजना- मीरा काव्य गेय काव्य है। संगीत की कसौटी और भावस्तर पर खरे उतरने वाले कई छंदों का प्रयोग मीरा ने किया है, पर मात्रिक छंदों का प्रयोग बहुत हुआ है।

मुहावरों का प्रयोग- मीरा के काव्य में मुहावरों का प्रयोग प्रायः कम ही हुआ है, लेकिन जितना भी है वह सफल है। मीरा ने वीप्सा, रूपक, उपमा अर्थान्तर न्याय इत्यादि तीनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया है।

गीति काव्य के निम्नलिखित तत्व हैं-

1. **आत्माभिव्यंजना-** कवि अपने एक अनुभक्ति भागों को ही मुख्य रूप से अभिव्यक्त करता है।

2. **संगीतात्मकता-** संगीतात्मकता गीति-काव्य का प्रमुख तत्व है। आत्माभिव्यंजित स्वसुर भी संगीत की स्वर-लहरी पर खरी उतरनी चाहिए।

3. **अनुभूति की पूर्णता अथवा भाव-प्रवणता-** गीति-काव्य में प्रत्येक पद भाव-प्रवणता में पूर्ण होता है और पद-भाव बिखेरकर अपना समग्र प्रभाव डालता है।

4. **भावों की एकता-** गीति-काव्य में भावों का केन्द्रीकरण आवश्यक है।

5. **आत्माभिव्यंजना-** गीति-काव्य कवि के आंतरिक भावों का प्रत्यक्ष रूप बाह्याभिव्यंजना है। गीतिकार काव्य में ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है, जो सार्वकालिक और सार्वमौलिक होती है। मीरा के गीत इस दृष्टि से विशेष सफल हैं।

मीरा के पदों में गीति-काव्य के उपयुक्त सभी तत्व हैं। उनका सारा प्रेम-पीर की मार्मिक अभिव्यक्ति है। गीत की प्रत्येक पंक्ति संगीत के उतार-चढ़ाव पर खरी उतरती है। अनुभूति और भाव-प्रवणता में हर पद स्वयं में पूर्ण है, इससे उनका हर भावों का एकीकरण करता हुआ अनुभूति का समग्र चित्र प्रस्तुत करता है।

मीरा की रसयोजना

मीरा के काव्य में 'श्रृंगार' और 'शांत' केवल दो ही रस हैं। कहीं-कहीं पर करुण रस की अनुभूति अवश्य होने लगती है पर वह करुणानुभूति विप्रलंभ श्रृंगार का ही अंग है। कई पदों में वीर, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स रस की भी झलक मिलती है, परंतु ये रस की कोटि में न पहुंचकर भाव की कोटि में रह जाते हैं।

श्रृंगार रस- मीरा के काव्य में प्रयोग श्रृंगार का वर्णन प्रवासजन्य संयोग-श्रृंगार के अंतर्गत है। मीरा के विप्रलंभ श्रृंगार में विरह की दसों दशाओं का चित्रण है।

मीरा की वेदनानुभूति

मीरा के सामने उसके बाल्यकाल से ही ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होती गईं जो उनके हृदय में वेदना को घनीभूत करती चली गई। वैष्णवीय-भक्ति भावना ने उनके हृदय में अनुभूति और वेदना को अंकुरित कर दिया था। पति, माता-पिता की मृत्यु ने भी उनके हृदय को झकझोर डाला, परिजनों द्वारा भीषण-यातनाएं पाकर पीड़ा से उनका हृदय कराह उठा। इन समस्त घटनाओं ने उनके हृदय में निर्वेद और वेदना को भर दिया। बचपन में मीरा के हृदय में जो भक्ति के संस्कार थे, इन

परिस्थितियों के कारण उफन कर ऊपर आ गए। कुटुम्बी जनों से मीरा को घोर यातनाएं मिलीं, उनका मीरा ने अपने कई पदों में उल्लेख किया।

मीरा के काव्य में वेदना का स्वरूप दुखात्मक न होकर सुखात्मक होता है। भक्त और प्रेमी वेदना में सुख का अनुभव करता है। मीरा के काव्य में पार्थिव और अपार्थिक विरह का समन्वय है। उनकी वेदना में एक कुचले हुए स्वप्न की और एक प्रेम दग्ध हृदय की व्याकुलता है। उसमें पार्थिवता और यथार्थता है। मीरा अपने-अविनाशी प्रियतम कृष्ण के लिए उसी प्रकार वेदना का अनुभव करती है, जिस तरह प्रेमिका अपने हाड़-मांस प्रियतम के लिए करती है। अत: मीरा की अपने प्रियतम के लिए जो वेदना है, वह सजीवता, वास्तविकता के साथ में भव्य और है। इसलिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल मीरा की वेदनाभूति को पार्थिव मानते हैं परंतु मीरा की वेदनानुभूति को सर्वथा पार्थिव मानना उचित नहीं है, क्योकि पहले से वह वेदनानुभूति इतनी परिष्कृत और उदात्त है कि उसमें पार्थिवता लेश मात्र भी नहीं है। दूसरे लोक-भूमि से ऊपर उठने के कारण ही उसमें सजीवता, यथार्थता, भव्यता और दिव्यता आई है। तीसरे पार्थिव वेदना में दु:ख रहता है जबकि मीरा की वेदना में निराशा और दु:ख के स्थान पर आशीर्वाद है।

मीरा की प्रेम साधना

मीरा मानती है कि प्रेम की पीड़ा सहन करना सरल नहीं है। उन्होंने अपने गिरधर के ऊपर तन-मन-धन से सभी न्यौछावर कर दिया था, वे प्रेम दीवानी होकर जहर का प्याला चरणामृत की तरह पी गईं और विषधर को सुमन हार की तरह धारण कर लिया। कुल लाज और मर्यादा को छोड़कर वे वृंदावन की कुंज गलियों में फिरीं-उसमें निम्नलिखित तत्व हैं-

1. प्रेम में पूर्ण समर्पण, 2. उल्लास की भावना, 3. ममता का आधिक्य, 4. प्रेम में विश्वास, 5. प्रेम में अभिमान, 6. प्रेम में नित्य नवीनता।

मीरा की प्रेम साधना हृदय की पावन एवं मंजुल धारा है।

मीराबाई की भाषा

इनकी वाणी का गुजरात में बहुत आदर है। इनके पद कुछ राजस्थानी में हैं तथा कुछ शुद्ध ब्रजभाषा में। जो पद इन्होंने लिखे हैं वे तन्मयता से भरे हुए हैं। इनकी प्रेम-पीड़ा में निजीपन अधिक है। इन्होंने गोपियों का विरह-वर्णन न कर स्वयं अपना विरह निवेदन किया है। इनके पदों से इनकी तीव्रतानुभूति का परिचय मिलता है। मीरा ने अपनी तन्मयता के कारण ही इतनी ख्याति प्राप्त की है तथा हृदय की तीव्र संवेदना के कारण ही इनकी वाणी में इतना बल आ सका है।

रहीम

रहीम का जन्म 1556 में हुआ। इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। इनका पालन पोषण अकबर की देखरेख में हुआ। इन्हें अकबर ने 1572 ई. में गुजरात के पाटन की जागीर दी। बाद में गुजरात के सूबेदार बने। अकबर ने इन्हें खानखाना की उपाधि प्रदान की। बाद में इन्हें दक्षिण का पूरा अधिकार मिला। शाहजहां के विद्रोही होने पर इन्होंने जहांगीर का साथ दिया। उनका पारिवारिक जीवन सुखमय नहीं था। तीनों पुत्रों की मृत्यु हो गई। सन् 1626 में इनकी मृत्यु हो गई।

रहीम कई कवियों के आश्रयदाता थे। केशव, मंडन, नरहरि, गंग, आस्करन आदि कवियों ने इनकी प्रशंसा की है। ये तुर्की, फारसी, संस्कृत तथा हिन्दी के अच्छे जानकार थे। इनकी 11 रचनाएं प्रसिद्ध हैं तथा दोहावली में 300 दोहे संग्रहित हैं। दोहों में ही इन्होंने 'नगर शोभा' की रचना की जिसमें 142 दोहे हैं। इनका 'बरवैनायिका भेद' बरवै छंद में लिखा हुआ है इसमें नायिका भेद का वर्णन है। गोपी विरह भी लिखा है। इन्होंने संस्कृत में मदनाष्टक भी लिखा है जिसमें कृष्ण की रासलीला है। गोपी विरह में इन्होंने 101 बरवै छंदों की रचना की है। श्रृंगार के 60 सोरठे भी लिखे हैं।

रहीम के काव्य

रहीम का मुख्य विषय श्रृंगार नीति और भक्ति है। इन्होंने विष्णु, गंगा संबंधी भक्ति भाव की रचनाएं लिखी हैं। व्यास, वृंद और रसनिधी आदि कवियों की नीतिविषयक दोहे रहीम ने लिखे हैं। रहीम ने ब्रज तथा अवधि दोनों भाषाओं का प्रयोग किया है। इन्होंने ही तुलसी को बरवै रामायण लिखने हेतु प्रेरित किया। रहीम ने बरवै छंद के अतिरिक्त दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, मालिनी आदि कई छंदों का प्रयोग किया है। इनके निम्नलिखित संग्रह प्रकाशित हुए हैं- रहीम रत्नावली, रहीम विलास, रहिमन विनोद, रहीम कवितावली रहीम, रहिमन चंद्रिका, रहिमन शतक। इनकी दानवीरता की अनेक कथाएं प्रचलित हैं।

रहीम को जो लोकप्रियता मिली है वह 'दोहावली' अथवा 'सतसई' के दोहों के कारण ही। यह प्रसिद्ध है कि रहीम ने सात-सौ दोहों की रचना की थी तथा उन्हें अपनी 'सतसई' में संकलित किया था। पर दुर्भाग्य से सम्पूर्ण 'सतसई' अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। हिन्दी की सतसई-परम्परा में सर्वाधिक प्रसिद्ध बिहारी-सतसई मानी जाती है पर कदाचित रहीम की सतसई हिदी की सबसे पहली सतसई है।

राज्य कार्य में बहुत दिनों तक रहने के कारण इनको मानव-प्रकृति का अच्छा परिचय हो गया था जिसकी झलक इनके दोहों में स्पष्टतः मिलती है। इनके दोहे बड़े मार्मिक एवं चुभते हुए हैं तथा उनमें कहीं-कहीं गम्भीर हास्य भी मिलता है; जैसे कि लक्ष्मी के सम्बन्ध में कहा गया उनका यह दोहा-

कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की वधू, क्यों न चंचला होय॥

नायिका-भेद सम्बन्धी इन्होंने बड़े सरस बरवै लिखे हैं। ये बरवै अवधी भाषा में हैं। नायिका-भेद का प्रचलन आगे चलकर रीतिकालीन कविता में बहुत हुआ, उसका प्रारम्भिक रूप हम रहीम के इन छन्दों में देख सकते हैं। बरवै छन्द के जन्मदाता रहीम ही माने जाते हैं। ऐसी जनश्रुति है कि इनको एक सिपाही की स्त्री के प्रेम-सन्देह में ("प्रेम-रीति को बिरवा चलेहु लगाय") 'बिरवा' शब्द से बरबै छन्द लिखने की प्रेरणा मिली थी।

कबीर

कबीर के काव्य सृजन का उद्देश्य भव्य कविता करना नहीं वरन् अपनी अनुभूतियों का शब्दांकन करना था। वह मूलतः सन्त थे और उन्होंने आध्यात्मिक साधना हेतु ही वाणी का माध्यम

ग्रहण किया। उनकी आध्यात्मिक साधना एक और तो अगोचर, अगम्य, परब्रह्म से साक्षात्कार को संकल्पित है व दूसरी और इसी आध्यात्मिक साधना ने अद्वेतवाद के व्यावहारिक रूप से समाज में व्याप्त कदाचार व कुरीतियों को समूल नष्ट करने का निश्चय किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत है -'कबीर ने कभी काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की, तथापि उनके आध्यात्मिक रस की नगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में रस इकट्ठा नहीं हुआ था।'

कबीर के काव्य में पौरुष सहज ही झलकता है। ऐसे हिन्दू कवि बिरले हैं, जो अपने संकल्प, अनुभूति के प्रति निष्ठा भाव रखते हों। कबीर हिन्दी काव्य के वह सूत्रधार थे जिन्होंने कविता को आम जिन्दगी का दर्पण बनाया तथा समाज और धर्म को अपने वर्ण्य विषय का केन्द्र बिन्दु चुना।

समीक्षा की दृष्टि से उनके काव्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - साखी, पद व रमैनी जिनका वर्ण्य विषय समाज ही है। युगदृष्टा कबीर के काव्य में वेदान्त, प्रेमसाधना, संसार की नश्वरता, माया की प्रबलता, हृदय की शुचिता, धार्मिक आडम्बरों का विरोध व साम्प्रदायिक एकता का प्रतिपादन रहा है। डा. रामकुमार वर्मा ने उनके काव्य सृजन के मन्तव्य को इस प्रकार उद्घाटित किया है - 'इन ग्रन्थों का वर्ण्य विषय प्राय: एक ही है - वह है ज्ञानोपदेश। कुछ परिवर्तन कर वही विषय प्रत्येक ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है। विस्तार में उनके वर्ण्य विषय यह हैं - योगाभ्यास, भक्त की दिनचर्या, सत्य वचन, विनय और प्रार्थना, आरती उतारने की रीति, नाम महिमा, सन्तों का वर्णन, सत्यरूप निरूपण, माया विषयक सिद्धान्त, गुरु महिमा, सत्संगति आदि। ये विषय वही हैं जिनके द्वारा घूम फिरकर निर्गुण ईश्वर का निरूपण हो जाता है। अनेक स्थलों पर सिद्धान्त और विचारों में आवर्तन भी हो जाता है।'

कबीर का काव्य असाधारण है। उनका समूचा जीवन सांसारिक वृत्तियों तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने में गया। उनका काव्य सायुक्त व मौलिकता से परिपूर्ण है। उन्होंने कविता लिखने के लिए मात्र शब्दों का चयन नहीं किया, बल्कि उन शब्दों का चिन्तन व मन्थन किया। तत्पश्चात् उसे अपने काव्य में प्रयुक्त किया। इस प्रकार उनका काव्य भावुकता से परे बुद्धि तत्व की प्रधानता लिए है।

कबीर के भाव पक्ष

कबीर के साहित्य में रसानुभूति अद्भुत है। उपदेशात्मक सूक्तियां व हठ योग सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त उनका काव्य पूर्ण रससिक्त है। उनकी कविता में शान्त, अद्भुत व श्रृंगार रसों की त्रिवेणी मिलती है। अपने मानसिक विकारों से संघर्ष सम्बन्धी काव्य को वह शान्त रस से आप्लवित करते हैं। उनके काव्य में भावपक्ष भी ज्ञान तत्व की भांति विद्यमान है। आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्य का विषय बनाकर उसे सरलता व सहजता से लोकमात्र में प्रस्तुत कर कबीर ने सही अर्थों में काव्य की आत्मा को पहचाना है। उनके काव्य में भक्ति भावों की प्रचुरता है। उन्होंने आत्मा-परमात्मा समान अदृश्य पदार्थों को प्रतीक व उपयुक्त उपमानों के द्वारा सादृश्य के रूप में चित्रित किया है। आत्मा को प्रेयसी व परमात्मा को प्रेमी मानकर वह सरस काव्यवर्षण करते हैं।

कबीर ने संयोग व वियोग का सशक्त चित्रण कर अपनी पटुता का परिचय दिया है। उनके आध्यात्मिक संयोग व वियोग के चित्रों की तुलना में अन्य कवि सफलता के सोपान तक पहुंचने में असमर्थ रहे हैं। इस सन्दर्भ में एक विद्वान समीक्षक का मत प्रासंगिक है - 'कबीर की कविता में तो भावना नृत्य करती है और उसी से रस प्रवाह होता है। कबीर की रहस्यमयी कविताओं में जो रस की धारा बहती है, वह आत्मा की कामना और वासना के क्षेत्र से बाहर निकालकर निर्वाण के परमानन्द की स्थिति को प्राप्त कराने में समर्थ होती है। इस स्थिति को प्राप्त करके कवि स्वयं प्रेम रस का पान करता है और ब्रह्म के रंग में रंगकर मतवाला हो जाता है। कबीर की रचनाओं में इस

रस की न जाने कितनी शीतल धाराएं बहती हुई मिलती हैं, जिनमें स्नान करके सहृदय पाठक जीवन की वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।'

रस की दृष्टि से कबीर के काव्य में मुख्यत: तीन रसों यथा श्रृंगार, अद्‌भुत एवं शान्त का समावेश है किन्तु प्रधानता श्रृंगार की है। उनका भक्ति व आध्यात्मिक साहित्य प्रिय और प्रियतम की अटूट कड़ी है जो आत्मा परमात्मा की प्रतीक है। कबीर ने अपने काव्य का सृजन रस सिद्धान्त के अनुसार किया, काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार नहीं किया, फिर भी श्रृंगार उनके काव्य में प्रभावी रूप से उभरकर आया है।

(अ) **श्रृंगार रस** - कबीर ने दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से ब्रह्म का रहस्यवादी चित्रण किया है। उनके पदों में श्रृंगार के दोनों पक्षों, संयोग व वियोग का वर्णन समान रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

(ब) **अद्‌भुत रस** - स्थायी रूप से विस्मय जिन उक्तियों में विद्यमान होता है वे आश्चर्यानुभूति होती हैं। यह उलटबांसियां अधिकांश अद्‌भुत रस से अभिसिक्त हैं। उन्होंने अद्‌भुत रस में अलौकिक व अदृश्य का सजीव वर्णन कर इस रस को प्रचुरता से अपने काव्य में विस्तीर्ण किया है।

(स) **शान्त रस** - भक्ति भावना से प्रेरित कबीर की कविता में शान्त रस का प्राधान्य है। जीवन के विभिन्न आयामों को उजागर कर मानवीय संवेदनाओं की सहज प्रस्तुति में शान्त रस का वर्णन हुआ है। इस रस में उन्होंने, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार, सत्य की अवधारणा का प्रतिपादन, जीवन के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया है।

कबीर के काव्य में अनायास ही बहुलता में अलंकारों का समावेश है। कबीर के काव्य में उपमा, रूपकों की तो प्रचुरता है ही, साथ ही अन्योक्ति, लोकोक्ति, सांगरूपक, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार भी दृष्टव्य हैं। यमक, श्लेष, अनुप्रास अलंकारों की भी आवृत्ति उनके काव्य को सौन्दर्य प्रदान करती है।

कबीरदास ने अपने काव्य में अलंकारों का सहज ही प्रयोग किया है। काव्य प्रतिभासम्पन्न होने के उपरान्त भी कबीर के जीवन का लक्ष्य कविता करना नहीं, बल्कि इसके माध्यम से साधना, भक्ति भावना का प्रचार-प्रसार व सामाजिक कूप-मण्डूकता पर प्रहार करना रहा।

कबीर के काव्य में उलटबांसी पद्धति उल्लेखनीय है। इनमें लोक-विपरीत बातें कही गई हैं। ऊपरी अर्थ बोध होने पर इन लोक विरुद्ध बातों की प्रस्तुति से श्रोता अथवा पाठक को आश्चर्य होता है। लेकिन इन प्रतीकों के आध्यात्मिक अर्थों का जब उद्‌घाटन होता है तब हमें यह असंगत अथवा विरोधमूलक प्रतीत नहीं होती। कबीर के काव्य में अलंकार प्रधान उलटबांसी, प्रतीक प्रधान उलटबांसी व अद्‌भुत रस प्रधान उलटबांसी के दिग्दर्शन मुख्यत: होते हैं।

सूरदास

सूरदास के जीवन वृत्त के दो आधार हैं - 1. अत: साक्ष, 2. बाह्य साक्ष। अत: साक्ष्य में सूर के आत्मकथन हैं। एक दोहा इसके लिये प्रसिद्ध है-

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रयानि,

शिव प्रधान तप कहरी बहुत रन् तऊ पार नहि लीन-

इसके आधार पर सूर की आयु 67 वर्ष की थी।

साहित्य-लहरी के एक पद में साहित्य-लहरी का रचना-संवत दिया गया है-

पुनि-पुनि रसन के रस लेख।

इसमें भारतेन्दु ने 'रसन' का अर्थ 'एक' लिया है, तथा इससे अर्थ संवत् 1627 निकलाते हैं। डॉ. मुन्शीराम शर्मा का कथन है कि संवत् 1627 तक सूरदास अवश्य जीवित थे।

बाह्य साक्ष में अन्य कवियों की उक्ति एवं कृक्तियां हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं- वार्ता साहित्य में 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' प्रमुख है। सम्प्रदाय सम्बन्धी ग्रन्थों में 'वल्लभ दिग्विजय (गोस्वामी यदुनाथ कृत), भक्तमाल (नाभादास), भक्तमाल की टीका (प्रिया दास) राम रसिकावली (महाराज रघुराज सिंह), भक्त नामावली (ध्रुवदास), भक्ति-विनोद (मियां सिंह), नागर समुच्चय (नागरीदास), व्यास वाणी (हरिराम व्यास) और मूल गुसाई चरित (बारा बेनी माधवदास) का नाम लिया जा सकता है। ऐतिहासिक ग्रन्थों में आइने अकबरी, मुन्शयाते और मुन्तशिव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

सूर के जीवन का प्रकाश डालने वाले निम्नलिखित ग्रन्थ भी ध्यान देने योग्य हैं जो सूर के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालते हैं -

1. *काशी नागरी प्रचारिणी-सभा की खोज रिपोर्ट।*
2. *गार्सा द तासी का हिन्दुस्तानी साहित्य का इतिहास।*
3. *शिवसिंह सेंगर का शिवसिंह सरोज।*
4. *जार्ज ग्रियर्सन का माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेटर लॉफ हिन्दुस्तान।*
5. *मिश्र बन्धुओं का मिश्र-बन्धु विनोद।*
6. *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास, इत्यादि।*

इसके अतिरिक्त सूरदास पर गम्भीर और शोधपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने वाले प्रमुख ग्रन्थ ये हैं जिनकी सहायता से सूर के प्रमाणिक जीवन-वृत्त को प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रन्थ हैं-1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कृत 'सूर साहित्य'

2. डॉ दीनदयाल गुप्त कृत 'अष्टछाप ओर वल्लभ सम्प्रदाय' इत्यादि।

सूर-निर्णय के लेखक प्रभुदयाल मित्तल तथा नगरी प्रचारिणी की खोज रिपोर्ट के अनुसार निम्नलिखित ग्रन्थों को सूर-कृत बताया गया है। इन्होंने 23 रचनाओं को माना है। कुछ इस प्रकार हैं- (1) सूर सारावली, (2)साहित्य लहरी, (3) सूरसागर, (4) भागवत भाषा, (5) दशम् स्कंद भाषा (6) सूरसागर सार, (7) सूर रामायण (8) मान लीला। इन रचनाओं में सभी को सूरकृत नहीं माना जा सकता। डॉ. दीन दयाल गुप्त ने सूरसागर और साहित्य लहरी तथा सूर सारावली को ही प्रामाणिक माना है। 'सूर-निर्णय' के लेखक सूर साठी हैं।

1. **साहित्य-लहरी** - इसमें 118 दृष्टिकूट पद हैं। इसमें स्वकीया, परकीया, मुग्धा, धीरा, प्रौढ़ा, विरग्धा, वियोगिकी, प्रोषित पतिका आदि नायिकाओं का वर्णन है।

2. **सूरसागर** - सूर की सर्वोत्कृष्ट रचना सूरसागर ही है। इसी के आधार पर सूर के व्यक्तित्व और कृतित्व का विवेचन किया जाता है। इसे भागवत की छाया में लिखा गया ग्रंथ कहा जा सकता है, पर यह भागवत का अनुवाद नहीं है। कहते हैं, यह सवा लाख पदों में समाप्त हुआ है किन्तु अभी तक 4132 पद प्राप्त हुए हैं। सूर सागर की कथावस्तु बारह स्कन्धों में विभक्त है। कृष्ण की लीलाओं का विस्तार से वर्णन दशम स्कंध में ही है। सूरसागर के पदों को विषय के अनुसार इन वर्गों में रखा जा सकता है-

(1) विनय वैराग्य, सत्संग, गुरु महिमा विषयक पद (2) बाल लीला सम्बन्धी पद। (3) प्रेम लीला और छोटी मान लीला विषयक पद। (4) दान लीला के पद। (5) मान लीला के पद। (6) विरह लीला के पद। (7) भ्रमरगीत के पद। (8) श्रीमद् भागवत के अनुसार रखे गये पद।

सूरसागर प्रबन्ध काव्य नहीं है। यह तो प्रसंगानुसार कृष्ण-लीला से संबंधित पदों का संग्रह मात्र है। कृष्ण का प्रेममय स्वरूप ही इसमें साकार हुआ है। महाभारत के कर्मयोगी एवं राजयोगी कृष्ण का इसमें कहीं अस्तित्व नहीं है। स्पष्ट है कि इसमें सूर की मौलिकता, विषय शैली, नई प्रसंगोद्भावना आदि में सुरक्षित है। यही सूर की 'सूरता' का परिचायक ग्रन्थ है।

3. **सूर-सारावली-** इस ग्रन्थ की कोई स्वतन्त्र प्रति उपलब्ध नहीं है। बम्बई प्रेस के सूर सागर की भूमिका के रूप में इसे प्रस्तुत किया गया है। इसमें कुल 1107 तुक हैं। यह सूर सागर का सारांश मात्र लगता है।

सूरदासजी महाकवि थे। एक महाकवि में मौलिकता निःसन्देह रूप में होती है। इन दोनों ग्रन्थों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर ने कई मौलिक कल्पनाओं को जन्म दिया है। भागवत में ऐसे कई मनोहारी स्थलों का अभाव है जो "सूरसागर" में दृष्टिगत होते हैं। "सूरसागर" का सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण भाग दशम स्कन्ध का पूर्वार्द्ध है। इसमें कृष्ण के जन्म से लेकर उनके मथुरा जाने और वहां से उद्धव को ब्रज भेजने तथा गोपियों का समाचार जानने तक की कथा है। किन्तु जैसा हमने पहले कहा है कि "सूरसागर" का यह अंश "भागवत" के इसी अंश से बहुत बड़ा है। दूसरे सूर के कृष्ण के चित्रण में तथा भागवतकार के कृष्ण के चित्रण में अंतर है।

"सूरसागर" से नवीन प्रसंगों की उद्भावना में सबसे ज्यादा संख्या राधा तथा गोपी सम्बन्धी प्रसंगों की है। भागवत में तो राधा का नामोल्लेख तक प्राप्त नहीं होता। किन्तु "सूरसागर" में "राधा" संबंधी अनेक प्रसंग हैं। बालिका राधा के बालक कृष्ण के साथ खेलने के प्रसंग तथा भ्रमर गीत की व्यंग्य भरी उक्तियां 'भागवत' में देखने को भी न मिलेंगी। भागवत में उद्धव की कथा अवश्य है किन्तु उनके गोकुल में पहुंचने पर गोपियां उन्हें चिढ़ाती दिखाई नहीं देतीं। वे तो उद्धव के वाक्यों को चुपचाप सुन लेती हैं। उनके द्वारा कृष्ण का संदेश पाकर उनकी विरहव्यथा शांत हो जाती है।

'सूरसागर' भागवत का अनुवाद नहीं है। वह एक स्वतन्त्र रचना है। भागवत का तो उसमें केवल इतना ही आधार लिया गया है जितना कृष्ण की ब्रजलीला की रूपरेखाओं के लिये आवश्यक था। उसमें अनेक नवीन प्रसंगों की उद्भावना है। उसकी प्रकृति भावना समन्वित काव्य की है किसी पुराण-रचना की नहीं। उसमें तो कितने ही भागवत के प्रसंगों, विवरणों तथा सिद्धान्तों को छोड़ दिया

गया है और कितने ही नवीन प्रसंगों की अवतारणा की है, अत: निश्चित है कि भागवत का आधार लेते हुए भी 'सूरसागर' सूर की एक मौलिक कृति है।

सूरदास के भावुकता के वर्णन अनेक प्रसंग हैं - बचपन में वात्सल्य के अनेक दृश्य एवं लीलाएं, कृष्ण पर असुरों का आक्रमण, उनका वध पूतना, बकासुर, ऊखल प्रसंग, कालिया मर्दन तथा गोपियों से स्नेह, गोकुल से मथुरा गमन में माता-पिता, सखा, गोपियों की उदासीनता एवं व्यथा भावुकता से परिपूर्ण है। फिर कृष्ण तथा उद्धव दो कठोर पात्र आते हैं। दोनों में पाठक को प्रारंभ में कठोरता का आभास मिलता है। श्रीकृष्ण इसलिये कठोर प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे गोपियों को विरह-सिन्धु में डुबोकर स्वयं मथुरा रह रहे हैं तथा उद्धव इसलिये कठोर जान पड़ते हैं, क्योंकि वे गोपियों की करुण दशा को आंखों से देखकर भी नीरस ज्ञानापदेश देने के लिए उद्यत हैं। किन्तु यह सूरदास की अद्‌भुत प्रतिभा का ही चमत्कार है कि उन्होंने कठोर प्रतीत होने वाले इन दोनों पुरुषों के हृदय की समस्त कोमलता को अद्‌भुत कौशल के साथ व्यक्त कर दिया है। श्रीकृष्ण गोकुल लौटकर नहीं जाते लेकिन गोकुलवासियों की याद में खूब छटपटाते हैं और 'ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं' कहकर अपने हृदय की वेदना को प्रकट कर देते हैं।

उद्धव अपने ज्ञान पर गर्व करते हुए मुस्कराकर गोकुल जाने को तैयार होते हैं। वे गोपियों के सम्मुख पहुंचकर कई नीरस उपदेश देते हैं, पर वे जब लौटकर श्रीकृष्ण को 'दिन दस घोष चलहु गोपाल' की प्रार्थना करते हैं, तब मानो कवि उनके उदय को मानवोचित समस्त कोमलता से ओतप्रोत कर देता है। इस कोमलता, सहृदयता एवं भावुकता का हम 'भ्रमरगीत' के किसी भी पात्र में अभाव नहीं देखते। पुरुषहृदय दूसरों की करुणा को देखकर द्रवित होता है और नारी-हृदय स्वत: द्रवणशील तथा कोमल होता है। सूर इन दोनों वर्गों के पात्रों की भावनाओं के माध्यम से अपनी समस्त सहृदयता एवं भावुकता लेकर 'भ्रमरगीत' में अवतीर्ण हुए हैं।

पुरुष के हृदय की जो कठोरता के आवरण में नवनीत-सी कोमलता छिपाये रहता है, सहृदय एवं भावुक बनाने के लिए नारी-हृदय की कोमलता-मात्र पर्याप्त है, अपितु वाक्-चातुरी एवं वाग्वैदग्ध्य के सरल आघात भी उनके लिये अपेक्षित हैं, तभी उसकी कठोरता का आवरण टूटकर विच्छिन्न हो सकता है। सूर की गोपियों में हम इन दोनों बातों का पर्याप्त विकसित रूप पाते हैं। वे बड़ी चतुरता तथा वाग्विदग्धता से उद्धव के कठोर उपदेशों को सरल व सरस तर्कों से उत्तर देती हैं और कृष्ण के लिये अनेक उपालम्भ सुनाकर अद्‌भुत वक्रोक्तियों से उन्हें इतना छका देती हैं कि वे अपना निर्गुण ज्ञान का भारी आवरण उतार फैंकने की तैयारी करने लगते हैं। वस्तुत: सूर ने अपने समस्त 'भ्रमरगीत' को सहृदयता, भावुकता, चतुरता एवं वाग्विद्‌ध्ता की अनेक उक्तियों से भरकर, अत्यन्त सरस बना दिया है।

सूर की वाग्विद्‌ध्ता

सूर ने उद्धव एवं गोपियों के संवाद द्वारा वाग्विद्‌घता का वर्णन अत्यन्त कौशल से किया है-उद्धव गोपियों से प्रेम छोड़ जाने का उपदेश देते हैं तब गोपियां व्यंग्य करती हैं क्या जब कृष्ण ने तुम्हें भेजा था तब वे मुस्कुराये थे। उद्धव को अनेक व्यंग्यों से चकित कर देती हैं- 'निर्गुण कौन देश को वासी' आये जोग सिखावन पांडे, आयो घोष बड़ो व्यापारी, तेरो बुरो न माने कोऊ, मथुरा काजर की कोठरी, उद्यो मन नारी दस बीस आदि कई पदों में उन्होंने ऊधो को निरुत्तर कर दिया।

सूर के 'भ्रमरगीत' में जो चातुर्य एवं वाग्वैदग्ध पाया जाता है, वह उक्ति चमत्कार की अतिशयता से प्रसूत नहीं है, अपितु उसमें हम भावातिरेक का स्पष्ट दर्शन करते हैं। कुब्जा और भ्रमर को माध्यम बनाकर वे कठोर व्यंग्य करती हैं बड़े कौशल से वे अपनी अद्‌भुत वाक चातुरी का परिचय देती हुई अपने मत का मण्डन एवं विगुर्ण का खण्डन करती है।

भावुकता एवं सहृदयता की इतनी सहज अभिव्यक्ति सूर की ही विचित्र प्रतिभा का काम है। उनकी गोपियां एक ओर तो उद्धव को चतुरता एवं वाग्विदग्धतापूर्ण उपालम्भ सुनाती हैं और दूसरी ओर अपनी भावुकता की बाढ़ को भी नहीं रोक पातीं। जब उनकी वेदना हृदय की सीमाओं से बाहर होने लगती है, तो वे अत्यन्त सहज भाव से अपनी रात्रि की तड़पन को भी उद्धव को सुनाए बिना नहीं रहतीं।

सूर की गोपियों की यह भावुकता एवं सहृदयता मिश्रित चतुरता तथा वाग्विदग्धता ही तो अपने अन्दर वह शक्ति रखती है, जिसके कारण अंत में कृष्ण को भी यह कहना पड़ता है कि-

ऊधो ! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं !

सारांश यह है कि सूरदास में जितनी सहृदयता एवं भावुकता है, प्राय: उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी है। उनकी गोपियों के मुख से नि:सृत एक-एक पंक्ति इसका प्रमाण है।

सूरदास के प्रकृति चित्रण

सूरदास प्रकृति से अत्यन्त प्रभावित थे- उन्होंने ब्रजभूमि, गोकुल, वृन्दावन कुंज, रास-केलि वर्णन चमुना का कछार इत्यादि द्वारा विशद प्रकृति चित्रण किया है। उन्होंने आलंबन-उद्दीपन के रूप में प्रकृति चित्रण किया है। अत: उनका प्रकृति वर्णन साधन है, साध्य नहीं। उनकी पैनी दृष्टि विस्तृत जगत की रंगस्थली से असंख्य पदार्थ खोज लाती है, पर उनका सौन्दर्य एकमात्र कृष्ण के सम्बन्ध में सार्थक होता है। प्रभात इसलिए सुन्दर है कि उस बेला में श्रीकृष्ण सोकर उठते हैं। प्रभात में विकसित हुए कमलों से श्रीकृष्ण के अर्योन्मीलित नेत्रों का सुखद स्मरण होता है। कलरव करते हुए खगवृन्द ऐसे प्रतीत होते हैं मानो कृष्ण की विरुद्धावली गाते रहे हों। विकसित कमलों पर मण्डराते तथा गूंजते हुए भ्रमर कृष्ण प्रेम में उन्मत्त उनका गुण गान करने वाले सेवक जैसे प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अंधकार भाग जाता है उसी प्रकार कृष्ण के जागने से समस्त दु:ख दैन्य, द्वन्द्व भ्रम और मत्सर मद दूर हो जाते हैं।

संयोगावस्था में प्रकृति चित्रण- जिस वातावरण में श्रीकृष्ण रसकेलि करते हैं उसकी प्राकृतिक शोभा का तो कहना ही क्या ? कविवर-सूरदास ने अपने हृदय के आनन्द-उत्साह, गोपियों के उच्छल उल्लास और श्रीकृष्ण के परमानन्द रामेश्वर रूप के साथ बाह्य प्रकृति को अत्यधिक उमंग से उत्फुल्ल चित्रित किया है। श्रीकृष्ण की सामूहिक रस-लीला का उत्कृष्ट रूप रास तथा बसन्त के बिहारों में ही दिखाई देता है।

सूरदास की भक्ति पद्धति

सूरदास परमभक्त थे। सूरदास की भक्ति-पद्धति में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैसे तो महात्मा सूरदास के अवतारवाद में विश्वास करने के कारण भागवत के आधार पर "सूरसागर" में नौ अवतारों की कथा आई है, और उनमें राम का वर्णन काफी विस्तार से भी है किन्तु जिस प्रकार की तल्लीनता उनकी कृष्ण के वर्णन में है, उतनी और अवतारों के वर्णन में नहीं दिख पड़ती। वास्तव में जितनी अनन्यता सूर की कृष्ण के प्रति है, इतनी और किसी अवतार में नहीं है। वे अपनी इस अनन्यता को देखिए स्वयं स्वीकार कर रहे हैं-

"मेरो मन अनंत कहां सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी उड़ि जहाज पर आवै"

सूरदासजी इस बात को मानते हैं कि कृष्ण परब्रह्म निर्गुण भगवान हैं। उन्होंने अनेक स्थानों पर व्यक्त किया है कि भगवान अद्वैत और गुणातीत हैं। वे इस तथ्य को जानते भी हैं और मानते भी हैं। किन्तु तो भी उन्होंने अपने मन को सगुण भगवान की ओर ही अधिक लगाया है। वे सगुणोपासक कवि ही हैं।

शास्त्रों में भक्ति करने के नौ प्रकार बताये जाते हैं जो नवधा भक्ति नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं-श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन।

दासभाव की भक्ति भी सूर ने की है। उसमें सात भूमिकाएं होती हैं-दीनता, मानमर्षता, भय प्रदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारण। वे सातों सूर में हैं।

संख्य भाव की भक्ति- "सूरसागर" में सखा भाव की भक्ति के पद प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं।

वात्सल्य भाव की भक्ति- दास्य और सख्य भाव की भक्ति के अतिरिक्त महात्मा सूरदास ने वात्सल्य और माधुर्य भाव की भक्ति-भावना भी कृष्ण के प्रति प्रदर्शित की है।

माधुर्य भाव की भक्ति या कान्तभाव की प्रीत- माधुर्य भाव की भक्ति में उनकी मौलिक उद्‌भावनाएं दर्शनीय हैं। स्त्री-पुरुष के मूल प्रकृतिगत प्रेम को भक्ति की ओर लगाकर सूर ने रस और आनन्द का संचार करने वाली भक्ति की पद्धति निकाली है। प्रेम की यह भावना प्रत्येक प्राणी के लिए एक प्राकृतिक वस्तु है। विद्वानों ने आसक्ति के ग्यारह भेद किये हैं- (1) गुणमाहात्म्यासक्ति (2) रूपासक्ति (3) पूजासक्ति (4) स्मरणशक्ति (5) दास्यासक्ति (6) सख्यासक्ति (7) कान्तासक्ति (8) वात्सल्यासक्ति (9) आत्मनिवेदनासक्ति (10) तन्मयासक्ति (11) परमविरहासक्ति।

इन उपर्युक्त 11 प्रकार की आसक्तियों के चित्र सूरदास के पदों में देखने को मिल सकते हैं।

सूरदास के दार्शनिक पक्ष

सूरदास श्री वल्लभाचार्यजी के शिष्य अवश्य हैं और उनके पुष्टिमार्ग से प्रभावित भी हुए किन्तु उनके सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन उन्होंने नहीं किया है। पुष्टि या मर्यादा शब्द "सूरसागर" में कहीं देखने को भी नहीं मिलता। आविर्भाव, तिरोभाव जैसे पारिभाषिक शब्द जो श्री आचार्यजी के दार्शनिक सिद्धान्तों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं "सूरसागर" में दृष्टिगत भी नहीं होते। श्री आचार्यजी "माया" की तुलना "कनक कपिश वस्त्र" से करते हैं जबकि सूरदासजी उसे "काली कमरी" मानते हैं। इसके विपरीत "राधा सूरदास की नितांत मौलिक कल्पना है।" उन्होंने राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना है तथा श्री आचार्यजी के सिद्धान्तों में राधा का कोई स्थान ही नहीं है।

सूर के कृष्ण- महात्मा सूरदास के कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी हैं। कई स्थलों पर सूरदासजी ने विष्णु हरि आदि शब्दों का प्रयोग भी किया है। प्रयोग ही नहीं उन्होंने इनकी वन्दना भी की है। राम-कथा का वर्णन भी सूर ने किया है। किन्तु वास्तव में यदि देखा जाये तो सूर का मन जितना कृष्ण के गुणगान में लगा है उतना अन्यत्र नहीं। वस्तुतः विष्णु, हरि और राम सभी कृष्ण के ही नाम हैं। ये सब निराकार ब्रह्म के सगुण रूपों के नाम ही हैं। सूरदासजी के कृष्ण भी मूल रूप में तो निर्गुण ही हैं पर भक्त-जनों के आनन्द हेतु उन्होंने इस रूप में अवतार ले लिया है।

सूरदासजी के दार्शनिक सिद्धान्तों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि उनके कृष्ण के दो रूप हैं-निराकार और साकार। मूल रूप में तो वे निर्गुण हैं किन्तु भक्त जनों को आनन्दित करने के हेतु अवतार लिए हुए हैं।

सूरदासजी ने माया का वर्णन भी तीन रूपों में किया है-(1) माया का दार्शनिक रूप, (2) माया का सांसारिक रूप, (3) माया का राधा रूप। अपने गुरु श्री वल्लभाचार्य के समान सूरदासजी भी माया को ब्रह्म के वश में मानते हैं। वे माया को ब्रह्म से पृथक नहीं मानते। उनके मतानुसार प्रलय के पश्चात वह ब्रह्म के पदों में ही समा जाती है। वह ब्रह्म का ही अंश है। पर माया का त्रिगुणात्मक ब्रह्म को आवृत्त कर लेता है। सत्य को भुलावा देकर वह असत अर्थात् विद्या को जन्म देती है। जीवात्मा माया के आवरण को ही सत्य मानती है और वास्तव में यही अविद्या है। इसी प्रकार माया का दूसरा नाम अविद्या भी माना जा सकता है।

सूरदास के भाव पक्ष

महाकवि सूरदास भाव-जगत के सुन्दर चितेरे हैं। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के बालवर्णन को ही देख लीजिए। पं. रामचन्द्र शुक्ल के कथानुसार वे बाल-जीवन का कोना-कोना झांक गये हैं। बाल-मनोविज्ञान का इस नेत्र विहीन कवि को अद्‌भुत तथा पूर्ण ज्ञान था। बालकों की प्रत्येक मनोहारी वृत्ति का चित्रण सूर के पदों में प्राप्त हो जाता है। श्रीकृष्ण का रूपवर्णन, उनकी बाल-सुलभ चेष्टाएं, मातृ-हृदय का सजीव-चित्र, बाल-क्रीड़ा, गोचारण, माखन-चोर, कृष्ण और राधा का स्वाभाविक मिलन, प्रणय आदि कितने ही प्रसंगों के इतने स्वाभाविक, सरस तथा मर्मस्पर्शी चित्रण हैं कि कहते नहीं बनता।

योजना रस- श्रृंगार वर्णन के अंतर्गत संयोग-प्रसंग के चित्रण भी अत्यन्त हृदयकारी हैं। रूप लिप्सा के कारण सूरदासजी के गोप-गोपियों के प्रणय में अपूर्व सौन्दर्य है। राधा और कृष्ण का प्रणय स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत किया गया है। सूरदास प्रमुखत: श्रृंगार एवं वात्सल्य रस के कवि हैं। शांत रस भी उनका प्रमुख रस है पर साथ ही अद्‌भुत, भयानक, वीर और करुण रस के भी अनेक प्रसंग सूरसागर में हैं।

सूरदास के कलापक्ष

सूरदास श्रेष्ठ कलाकार हैं। उन्होंने 'सूरसागर' में भाव धाराएं तो बहाई ही हैं, साथ ही उसमें माणिक्य और मुक्ताओं की प्रचुरता भी है। उनकी भाषा शुद्ध एवं साहित्यिक ब्रज भाषा है। उनकी शब्द संपत्ति बड़ी ही गौरव शालिनी है। लक्षणा और व्यंजना की भरमार ने भाषा को अत्यन्त सशक्त एवं प्रभावोत्पादक बना दिया है। कोमलकांत पदावली सूरदास की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है। साथ ही साथ यह सानुप्रास, स्वाभाविक, प्रवाहमयी, सजीव एवं भावों के अनुरूप है। वह अत्यन्त आडम्बरविहीन, व्यवहारिक और अन्तरस्तल का चित्रण करने वाली है। उनकी भाषा का प्रवाह तो देखते ही बनता है।

सजीवता भाषा का एक आवश्यक गुण है और भाषा में सजीवता लोकोक्ति एवं मुहावरों के प्रयोग से आती है। लोकोक्तियों के प्रयोग के भी कुछ उदाहरण देखिये-

(क) *कहन लगी अब बढ़ि बढ़ि बात।*

(ख) *बिन भीति तुम चित्र लिखत हो।*

उनकी भाषा की एक विशेषता और है जिसकी ओर ध्यान जाये बिना नहीं रहता। वह विशेषता है उसकी संगीतात्मकता। उनके पद गेयात्मक हैं तथा आज भी हम उनके पद रेडियो पर गाते हुए देखते हैं। शब्दों की ध्वनि निम्न पंक्तियों में देखते ही बनती है-

"ऊधो मन नाहीं दस बीस।"

इन पंक्तियों के शब्दों में गोपियों के प्रेम की विव्हलता, कातरता और दैन्य की जो सुन्दर व्यंजना हुई है, उनकी तुलना सहज नहीं है।

सूर की भाषा का गुण तो इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने एक ही लीला से संबंधित अनेक पद गाये किन्तु पाठकों को अरुचि नहीं होती, उन्हें सर्वत्र नवीनता दृष्टिगत होती रहती है।

अलंकार योजना- महात्मा सूरदास के पद अलंकारों में भी अत्यन्त अलंकृत है। उनके सांग रूपकों की समता तो अगर कोई कर सकता है तो केवल गोस्वामी' तुलसीदास ही। भगवान श्रीकृष्ण के रूप वर्णन में उपमाओं की बहार सर्वत्र दर्शनीय है। मुक्तक पदों की रचना में अलंकारिक पदों की संख्या बढ़ाने में किसी प्रकार का नियंत्रण न होने के कारण वे लिखते ही चले गए। उनके पदों में एक से बढ़कर अनेक रूपक, उपमा, दृष्टान्त, यमक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, वक्रोक्ति के उदाहरण मिलेंगे। यमक तथा श्लेष के अनेक प्रसंग हैं। उनके काव्य में ओज, प्रसाद और माधुर्य तीनों के अनेक रूप हैं। साथ ही अभिधा, लक्षणा, व्यंजना इन तीनों शब्द शक्तियों का प्रचुर समावेश है। उनके पद भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों से अत्यन्त सशक्त रूप में व्यक्त हुए हैं।

तुलसीदास

तुलसी की काव्य शैली

तुलसी की काव्य-शैली की दो विशेषताएँ हैं-चित्रात्मकता और अलंकारिता।

चित्रात्मकता- चित्रात्मकता तुलसी की काव्य-शैली की अन्यतम विशेषता है। लंका में आग लगने पर लंका के नर-नारियों और पशुओं की भगदड़ का स्वाभाविक चित्रण हुआ है। उदाहरणार्थ-

लागी, लागी आगि, भागि-भागि चले जहाँ-तहाँ,
धीयको न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उधारे, धूम-धुंद अंध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि-बारि' बार बारहीं।
हय हिहिनात, भागे जात घहरातगज,
भारी भीर ठेलि-पेलि रौंदि-खौंदि डारहीं।

अलंकारिता- तुलसीदास जी ने अपनी काव्य-शैली में अलंकारिता का भी प्रयोग किया है। अनुप्रास अलंकार की योजना तो प्राय: हर पद में देखने को मिलती है। इसके अतिरिक्त संदेह, उत्प्रेक्षा, तथा उपमा अलंकारों का भी प्रयोग उन्होंने किया है। उदाहरणार्थ

बालधी बिसाल बिकराल, ज्वालमान मानौं
लंका लीलिबेको काल रसना पसारी है।

तुलसीदास जी मुख्यत: अवधी भाषा के कवि हैं। इनकी अवधी तत्समों तथा अर्द्ध तत्समों से भरी है। उनकी भाषा में कई स्थानों पर ठेठ ग्रामीण भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। पर उनकी भाषा अत्यधिक परिमार्जित तथा साहित्यिक भाषा है।

अवधी के अतिरिक्त तुलसीदासजी ने ब्रजभाषा का भी बहुत कुशलतापूर्वक प्रयोग किया है। उनकी रचनाओं में इस भाषा का सहज सौंदर्य तथा माधुर्य देखने योग्य है।

गोस्वामीजी ने कहीं-कहीं राजस्थानी मिश्रित भाषा तथा भोजपुरी एवं बुन्देलखण्डी प्रभावित भाषाओं का प्रयोग किया है। आवश्यकतानुसार उनकी भाषा में मुगलकालीन जन साधारण में व्यवहृत अरबी एवं फारसी भाषाओं के भी शब्दों का प्रयोग हुआ है।

तुलसीदास की भाषा का सर्वप्रधान गुण साहित्यिकता है। उन्होंने अपनी भाषा को लोक व्यवहार की भाषा का रूप दिया है। उसमें सरलता, बोधगम्यता सौंदर्य, चमत्कार, प्रसाद, माधुर्य तथा ओज आदि सभी गुणों का समावेश है। उनका वाक्य विन्यास प्रौढ़ एवं सुव्यवस्थित है।

रचनाएँ-

(1) **महाकाव्य-** रामचरित मानस।

(2) **खंड काव्य-** राम लला नहछु, जानकी मंगल, पार्वती मंगल, हनुमान चालीसा।

(3) **मुक्तक-** गीतावली, कृष्ण गीतावली, दोहावली, कवितावली, बरबै रामायण आदि।

जन्म - महाकवि श्री तुलसी दास जी का जन्म सन् 1532 में बांदा (उ.प्र) जनपद के अंतर्गत राजापुर ग्राम में हुआ था। इनका लालन-पालन नरहरिदास ने किया। विचित्र मूल नक्षत्र में जन्म होने के कारण माता-पिता ने इनका परित्याग कर दिया।

रचनाएँ- रामचरित मानस, दोहावली, गीतावली, रामाज्ञा, प्रश्नावली, विनयपत्रिका, हनुमान बाहुक, रामलला नहछू, पार्वती मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी।

भाषा- तुलसी दास ने अवधि तथा ब्रजभाषा में काव्य रचना की है। इनकी भाषा आलंकारिक है तथा रसों का सुंदर समन्वय इनके काव्य में है।

मृत्यु - इनकी मृत्यु सन् 1623 ई. में काशी में हुई थी।

तुलसीकृत रामचरित् मानस का कथानक 'आध्यात्म रामायण तथा वाल्मीकि रामायण' से लिया माना जाता है। जहां भी तुलसी ने इनमें परिवर्तन आवश्यक समझा है, वहां कलात्मकता का पूरा ध्यान रखा है। कथावस्तु के विकास और वर्णन विस्तार में भी तुलसी की असाधारण प्रतिभा और कला के दर्शन होते हैं।

तुलसी की भक्ति भावना उनके काव्य के भाव- पक्ष का प्राण है। तुलसी ने दास्यभाव की भक्ति को स्वीकारा है। वे कहते हैं -

"सेवक- सेव्य भाव बिनु,
भव न तरिय उर गारि।"

तुलसी की भक्ति का आदर्श चातक था। वे उसी प्रकार राम के भरोसे हैं जैसे 'चातक'घन के भरोसे है-

"एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास,
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास।"

चातक का अनन्य प्रेम निष्ठा, पीड़ा, मान, प्यास, उत्कंठा, ध्यान, लगन, उनकी भक्ति का आदर्श था।

तुलसीदास के काव्य में सभी रसों का पूर्ण परिपाक हुआ है। शान्त रस तो तुलसी काव्य में सर्वत्र ओत- प्रोत है। विनय- पत्रिका का एक उदाहरण देखिये-

जन जुत विमल सिलनी झलकत नभ, प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहु जग रचना विचित्र, विलासत, विराट अंग- अंग।
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि- झरि, भरि- भरि जल आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानो राम भगति के पीछे।

तुलसी के काव्य में अलंकार प्रियता देखी जा सकती है हालांकि वे अलंकारवादी नहीं हैं। तुलसी को अलंकार प्रदर्शन पसन्द नहीं है, बल्कि अलंकार उनके काव्य में सहज रूप से आये हैं। उपमा एवं व्यतिरेक का एक उदाहरण देखिये -

"पीपर पात सरिस मन डोला।" (उपमा)
"सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पै कहै जाना।
निज परिपात द्रवै नवनीता, परिदुख सुसंत पुनीता।" (व्यतिरेक)

तुलसी के शब्द चित्र अनुपम हैं। वे पाठक के अन्त पटल पर अमिट छाप छोड़ जाते हैं। सीता की असहाय स्थिति का एक चित्र देखिये-

"रघुकुल तिलक वियोग तिहारे।
मैं देखो जब नाई जानकी,
मनहुं विरह मरति मन मारे।"

तुलसी का छन्दों पर अवाध अधिकार था। इन्होंने प्रधान रूप में दोहा- चौपाई छन्दों का प्रयोग किया है। वैसे तुलसी साहित्य में कवित्त, सवैया, छप्पय आदि अनेक प्रकार के छन्द मिलते हैं। विनय- पत्रिका में राग- रागनियों पर आधारित पद हैं।

संक्षेप में, हम कह सकते हैं कि तुलसी काव्य में कला- पक्ष और भाव- पक्ष अपने अत्यन्त प्रौढ़ रूप में हैं जो उन्हें एक अप्रतिम, प्रतिभाशाली, क्रान्तिदर्शी कवि सिद्ध करते हैं।

इकाई-पाँच

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. **कबीर प्रतिनिधि कवि कहे जाते हैं?**

(अ) ज्ञानाश्रयी शाखा के *(ब) प्रेममार्गी शाखा के*

(स) राम-भक्ति शाखा के *(द) कृष्ण-भक्ति शाखा के* **उत्तर-** *(अ)*

2. **कबीर के गुरु थे-**

(अ) रामानंद *(ब) विट्ठलनाथ*

(स) सैयद असरफ अली *(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।* **उत्तर-** *(अ)*

3. **कबीर की प्रमुख रचना है-**

(अ) बीजक (ब) सुजान (स) साखी (द) कोई नहीं **उत्तर-** *(अ)*

4. **कबीर का जन्म-स्थान है-**

(अ) मगहर (ब) काशी (स) रुनकता (द) राजापुर ग्राम **उत्तर-** *(ब)*

5. **कबीर की साखी हैं-**

(अ) दोहा (ब) सवैया (स) चौपाइयां (द) रोला **उत्तर-** *(अ)*

6. **कबीर की भाषा है-**

(अ) ब्रजभाषा (ब) राजस्थानी (स) भोजपुरी (द) मिश्रित **उत्तर-** *(द)*

7. **कृष्ण ने गोपियों से प्रेम करके क्या किया?**

(अ) गोपियों को वियोग दिया *(ब) गोपियों के गले पर छुरी चलाई*

(स) गोपियों को सुखा दिया *(द) गोपियों को बदनाम किया* **उत्तर-** *(अ)*

8. **गोपियों ने 'मधुकर' शब्द का प्रयोग किसके लिए किया है?**

(अ) भौंरे के लिए *(ब) कृष्ण के लिए*

(स) उद्धव के लिए *(द) इनमें से कोई नहीं* **उत्तर-** *(स)*

9. **गोपियों के कथनानुसार उनकी आंखों में कौनसा गुण था?**

(अ) मीनता (ब) लाली (स) खुला रहना (द) पलक झपकाना **उत्तर-** *(अ)*

10. **गोपियों के कथनानुसार विष का कीड़ा क्या खाता है?**

(अ) मिट्टी (ब) मांस (स) फल (द) विष **उत्तर-** *(द)*

11. **कृष्ण गोपियों का मन कहां ले गये?**

(अ) मथुरा (ब) अपने संग (स) वृंदावन (द) वंशी वट **उत्तर-** *(ब)*

12. **सूरदास रचित विरह-वर्णन के पदों के संग्रह का नाम क्या है?**

(अ) विरहा (ब) सूरसंचयन (स) भ्रमरगीत काव्य (द) सूरसागर **उत्तर-** *(स)*

13. **सूरदास द्वारा रचित ग्रंथ माने जाते हैं-**

(अ) 3 (ब) 5 (स) 7 (द) 9 **उत्तर-** *(ब)*

14. **सूर सम्राट कहे जाते हैं-**

(अ) वात्सल्य रस के (ब) हास्य रस के

(स) वीर रस के (द) करुण रस के **उत्तर-** *(अ)*

15. **सूर की भाषा है-**

(अ) अवधी (ब) ब्रजभाषा

(स) राजस्थानी (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं **उत्तर-** *(ब)*

16. **सूर के गुरु थे-**

(अ) बल्लभाचार्य (ब) विट्ठलनाथ

(स) रामानंद (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं **उत्तर-** *(अ)*

17. **तुलसीदास ने सीता माता से अवसर पाने पर क्या करने को कहा?**

(अ) मेरी सुधि दिलाना (ब) मेरा पाप क्षमा करना

(स) मेरा अपराध क्षमा कराना (द) मेरा परिचय देना **उत्तर-** *(अ)*

18. **तुलसीदासजी भव कैसे तरेंगे?**

(अ) भक्ति करके (ब) राम के गुण गाकर

(स) पुण्य करके (द) गुरु को प्रसन्न करके **उत्तर-** *(ब)*

19. **मन कब पछतायेगा?**

(अ) अवसर बीतने पर (ब) मरने पर

(स) वृद्ध होने पर (द) अवसर बीत जाने पर **उत्तर-** *(अ)*

20. **राम ने शरीर क्या करके दिया है?**

(अ) कृपा करके (ब) प्रसन्न होकर

(स) विचार करके (द) नियम के अनुसार **उत्तर-** *(अ)*

21. **तुलसीदास का वह ग्रंथ जो उनके भक्त-रूप का उद्घाटन करता है?**

(अ) रामलला नहछू (ब) वैराग्य संदीपनी

(स) विनय-पत्रिका (द) रामचरितमानस **उत्तर-** *(स)*

22. **श्रीकृष्ण गीतावली के रचनाकार हैं-**

(अ) सूरदास (ब) मीराबाई (स) रसखान (द) तुलसीदास **उत्तर-** *(द)*

23. **हिन्दी साहित्य में लोकनायक कवि हैं-**

(अ) तुलसीदास (ब) सूरदास (स) घनानंद (द) केशवदास **उत्तर-** *(अ)*

24. **रामचरितमानस में प्रयुक्त शैली है-**

(अ) कवित्त-सवैया शैली *(ब) गीत-शैली*

(स) दोहा-चौपाई शैली *(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं* **उत्तर-** *(स)*

25. **विनय-पत्रिका में प्रयुक्त रस है-**

(अ) वीर रस *(ब) शांत रस* *(स) हास्य रस* *(द) करुण रस* **उत्तर-** *(ब)*

26. **तुलसीदास का मृत्यु-स्थान है-**

(अ) काशी *(ब) मगहर* *(स) राजापुर* *(द) रुनकता* **उत्तर-** *(अ)*

27. **'विषय तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउं' में नरहरि किसे कहा गया है?**

(अ) नृसिंह को *(ब) कृष्ण को* *(स) राम को* *(द) पुरुष सिंह को* **उत्तर-** *(अ)*

28. **प्रिय अद्वैतता कौन चाहता है?**

(अ) वियोगिनी *(ब) वियोगिनी पत्नी*

(स) कानन सेवन नैन *(द) पत्नी* **उत्तर-** *(स)*

29. **इनमें कौनसा नाम कबीर की रचना में नहीं है?**

(अ) साखी *(ब) घनाक्षरी* *(स) सबद* *(द) रमैनी* **उत्तर-** *(ब)*

30. **कबीर की भाषा क्या है?**

(अ) अपभ्रंश *(ब) प्राकृत*

(स) सधुक्कड़ी (पंचमेल खिचड़ी) *(द) अवधी* **उत्तर-** *(स)*

31. **इनमें से कबीर कौन नहीं थे?**

(अ) समाज सुधारक *(ब) पाखंड विरोधी*

(स) भक्त *(द) पुराणपंथी* **उत्तर-** *(द)*

32. **इनमें से कबीर किसके विरोधी थे?**

(अ) मूर्तिपूजा के *(ब) हिन्दुओं के*

(स) मुसलमानों के *(द) धर्म के* **उत्तर-** *(अ)*

33. **हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का प्रारंभ होता है-**

(अ) संवत् 1375 से *(ब) सन् 1376 से*

(स) संवत् 1395 से *(द) सन् 1395 से* **उत्तर-** *(अ)*

34. **कबीर का जन्म हुआ था-**

(अ) सन् 1050 में *(ब) सन् 1398 में*

(स) सन् 1352 में *(द) सन् 1518 में* **उत्तर-** *(ब)*

35. **जायसी का जन्म हुआ था-**

(अ) सन् 1398 में *(ब) सन् 1494 में*

(स) सन् 1592 में *(द) सन् 1622 में* **उत्तर-** *(ब)*

36. **सूरदास का जन्म हुआ था-**

(अ) सन् 1450 में *(ब) संवत् 1450 में*

(स) सन् 1540 में *(द) संवत् 1540 में* **उत्तर-** *(स)*

37. **तुलसी का जन्म हुआ था-**

(अ) सन् 1532 में *(ब) सन् 1542 में*

(स) सन् 1552 में *(द) सन् 1562 में* **उत्तर-** *(अ)*

38. **जायसी की प्रमुख रचना का नाम है-**

(अ) बीजक (ब) नूरक चंदा (स) पद्मावत (द) रामचरित मानस **उत्तर-** *(स)*

39. **पद्मावत की रचना किस काव्य-भाषा में हुई है?**

(अ) अवधी (ब) ब्रज (स) राजस्थानी (द) खड़ी बोली **उत्तर-** *(अ)*

40. **पद्मावत की नायिका का नाम है-**

(अ) लक्ष्मीबाई (ब) दमयंती (स) पद्मावती (द) नागमती **उत्तर-** *(स)*

41. **पद्मावत के नायक का नाम है-**

(अ) अलाद्दीन (ब) राघव चेतन (स) रत्नसेन (द) कामसेन **उत्तर-** *(स)*

42. **कृष्णमार्गी शाखा के सर्वप्रमुख कवि हैं-**

(अ) कुंभनदास (ब) बिट्ठलदास (स) बंददास (द) सूरदास **उत्तर-** *(द)*

43. **सूरदास की प्रमुख रचना का नाम है-**

(अ) सूर सारावली (ब) अखरावट (स) सूरसागर (द) रामलला नहछू **उत्तर-** *(स)*

44. **अष्टछाप में सम्मिलित कवियों की संख्या है-**

(अ) छह (ब) आठ (स) बारह (द) दस **उत्तर-** *(ब)*

45. **साहित्य लहरी के लेखक हैं-**

(अ) तुलसीदास (ब) सूरदास (स) घनानंद (द) नन्ददास **उत्तर-** *(ब)*

46. **पुष्टि मार्ग के अनुयायी हैं-**

(अ) सूरदास (ब) गोविन्द स्वामी (स) केशवदास (द) रत्नाकर **उत्तर-** *(अ)*

47. **सूरदास का जन्म हुआ-**

(अ) सन् 1450 में *(ब) संवत् 1450 में*

(स) सन् 1478 में *(द) संवत् 1478 में* **उत्तर-***(स)*

48. **सूर की मृत्यु हुई-**

(अ) सं. 1640 ई. में *(ब) सन् 1640 में*

(स) सं. 1540 में *(द) सन् 1660 में* **उत्तर-** *(अ)*

49. **कृष्ण भक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं-**

(अ) सूरदास (ब) नंददास (स) मीराबाई (द) रसखान **उत्तर-** *(अ)*

50. **सूरदास के पदों की संख्या है-**

(अ) 4032 *(ब)* 4132 *(स)* 4192 *(द)* 4172 **उत्तर-** *(ब)*

51. **हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का प्रारम्भ होता है-**

(अ) सन् 1325 *ई. से* *(ब) सन्* 1355 *ई. से*

(स) सन् 1385 *ई. से* *(द) सन्* 1395 *ई. से* **उत्तर-** *(अ)*

52. **भक्तिकाल का दूसरा नाम है-**

(अ) आदिकाल (ब) मध्यकाल (स) रीतिकाल (द) उक्त कोई नहीं **उत्तर-** *(ब)*

प्रोजेक्ट वर्क/परियोजना कार्य

कबीर काव्य में धर्मनिरपेक्षता/समाजशास्त्रीय

कबीर की साधना वैयक्तिक नहीं थी- कुछ विद्वानों के मतानुसार कबीर की साधना वैयक्तिक थी अर्थात् सदाचारण, योगसाधन आदि के द्वारा इनका लक्ष्य सिर्फ आत्मोन्नति तथा आत्मविश्वास पर ही केन्द्रित बना रहता था। उन्होंने अपने समाज को उन्नति के पथ पर अग्रसर करने का गम्भीर प्रयत्न नहीं किया। ये विद्वान सम्भवत: कबीर के सुधारवादी रूप को नकारना चाहते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि कबीर के युग की परिस्थितियाँ आज के युग से थोड़ी भिन्न थीं। उन दिनों न तो समाज में इस प्रकार का श्रेणी विभाजन ही था एवं न इस तरह की मान्यताएं थीं। इन दिनों की समस्याएं राजनीतिक नहीं थीं। वे एकदम सामाजिक ही थीं।

सुधारवादी रूप- कबीरदास मनुष्य मात्र को समान मर्यादा का अधिकारी मानते थे। वह प्रत्येक प्रकार के भेद-भाव को व्यर्थ एवं अहितकर मानते थे। इसको दूर करने हेतु उन्होंने यथाशक्ति प्रयत्न भी किया। उनको किसी भी तरह का दम्भ या दिखावा रुचिकर नहीं था।

लोक-कल्याण की भावना- कबीर को समाज में दो तरह के तत्त्व दिखाई देते थे-समाजोपयोगी एवं समाज विरोधी। उन्होंने उपयोगी तत्त्व की प्रशंसा की तथा अनुपयोगी अथवा अहितकारी तत्त्वों से बचने का उपदेश दिया। उनका उपदेश या उनकी प्रेरणा किसी व्यक्ति विशेष को सुधारने के लिए नहीं है। उन्होंने जो कुछ कहा है, समाज को पतन की ओर जाने से रोकने के लिए कहा है।

बाह्याचारों का विरोध- कबीर की साधना का आधार प्रेम है। बाह्याचार प्रेम के मार्ग में बाधक होते हैं, इसी कारण उन्हें बाह्याचारों से चिढ़ थी। इसी कारण वे प्रत्येक तरह की संस्था का विरोध करते थे। क्योंकि उनकी सम्मति में संस्थाएं प्रेम के मार्ग में रोड़ बनती हैं तथा व्यक्ति के मन को संकुचित बना देती हैं। फलत: उन्होंने सम्प्रदाय-भावना, जाति भावना, छुआछूत, ऊंच-नीच की भावना, छोटे-बड़े की भावना आदि विभेदकारी भावनाओं को विघटनकारी तत्त्व माना और उसका खुलकर और डटकर विरोध किया।

साम्यवादी दृष्टिकोण- कबीर ने समाज की अपेक्षा व्यक्ति के सुधार को अधिक महत्त्व प्रदान किया है। **डॉ. रामजीलाल सहायक ने ठीक ही लिखा है कि,** "कबीर ने सामाजिक विषमता को मिटाकर एकत्व-स्थापन का निश्चय किया।"

निष्कर्ष- कबीर का अलग एक सच्चे विश्व-प्रेमी का अनुभव था। वह अज्ञान के कारणों की तह तक गये और उन्होंने डाल पात को धोकर नहीं, वरन् जड़ को सींच कर समाज रूपी वट-वृक्ष के निर्माण का सच्चा प्रयत्न किया। इस दृष्टि से कबीरदास एक उच्च कोटि के समाज-सुधारक थे।

कबीर काव्य में सांप्रदायिक सद्भावना

कबीरदास ने केवल हिन्दुओं के आडंबरों का ही विरोध नहीं किया अपितु मुसलमानों के आडंबरों की भी उन्होंने कटु आलोचना की है। उनकी मान्यता है कि काजी और मुल्ला उसी समय अपने मार्ग से भटक गए हैं जब से उन्होंने जीवों का वध करने के लिए छुरी अपने हाथ में ली है-

'काजी मुल्ला भ्रमियां, चल्या दुनी के साथ।
दिल तैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथ॥'

कबीरदास मुसलमानों के धार्मिक रीति- रिवाजों का भी विरोध करते हैं। उनकी मान्यता है कि जब तक हमारा मन पवित्र नहीं है तब तक हज और काबा क्या कर सकेंगे-

'सेख सबेरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।
जाका दिल साबत नहीं, ताको कहा खुदाइ।'

कबीरदास मिथ्याडम्बरों के दुश्मन हैं। उन्होंने जैन, बौद्ध और चार्वाक सभी के पाखण्डों का डटकर विरोध किया है। नाथपंथियों को वे भ्रमित मानते हैं।

कबीरदास हिन्दू और मुसलमानों दोनों से अपना मार्ग अलग मानते हैं। उन्हें सम्पूर्ण संसार भटका हुआ नजर आता है। वे कहते हैं -

'एक न भूला, दोय न भूला, भूला सब संसारा।'

तुलसी काव्य में समन्वयवाद

गोस्वामी तुलसीदास की समन्वयवादी दृष्टि पर प्रकाश डालते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- गोस्वामी जी की भक्ति- पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है- उनकी सर्वांगपूर्णता। जीवन के किसी पक्ष को सर्वथा छोड़कर वह नहीं चलती है। सब पक्षों के साथ उसका समन्वय है। न उनका कर्म या धर्म से विरोध है, न ज्ञान से, धर्म तो उनका नित्य लक्षण है। तुलसी की भक्ति को धर्म और ज्ञान दोनों की रसानुभूति कह सकते हैं। योग का भी उसमें समन्वय है, पर उतने ही का जितना ध्यान के लिए चित्त को एकाग्र करने के लिए।"

तुलसी की समन्वयवादी विशिष्टताओं को हम निम्न प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं -

1. **भाव- क्षेत्र में समन्वय -** तुलसी ने अपने समय के विभिन्न मत- वादों और भावों को समन्यवादी स्वरूप प्रदान किया। वे भावनाएँ तुलसी साहित्य में आकर एकरूप और समान हो गई।

2. **राम काव्य धारा और कृष्ण काव्य धारा में समन्वय-** तुलसी ने अपनी प्रतिभा से रामकाव्य धारा तथा कृष्ण काव्यधारा में समन्वय स्थापित किया है। इसका प्रमाण इस बात से मिलता

है कि तुलसी स्वयं राम काव्य धारा के प्रतिनिधि कवि थे, परन्तु फिर भी कृष्ण जी के चरित्र को लेकर 'कृष्ण गीतावली' की रचना की।

3. **अलंकार योजना में समन्वय-** तुलसी ने अलंकार योजना में समन्वय स्थापित करने के लिए अपने समय में प्रचलित अधिकांश अलंकारों का प्रयोग किया है। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि उन्होंने अलंकारों को साधन रूप में अपनाया है, साध्यरूप में नहीं।

4. **भावपक्ष और कलापक्ष-** भावपक्ष और कलापक्ष का समन्वय ही उनकी सफलता का मूलमन्त्र है। तुलसी के काव्य में भावपक्ष जितना सबल है कला पक्ष भी उतना ही सशक्त है वे दोनों का समन्वय करके चलते हैं।

5. **लोक भाषा और संस्कृत का समन्वय-** तुलसी ने अपने समय में प्रचलित ब्रज और अवधी लोकभाषाओं में अपने काव्य की रचना की लेकिन संस्कृत पदावली का व्यवहार कर समन्वय करने का प्रयास किया।

6. **निर्गुण और सगुण का समन्वय-** तुलसी के युग में निर्गुण और सगुण का विवाद जोरों पर था। उन्होंने इस विवाद को यह कह मिटाने का प्रयास किया -

'सगुनहिं अगुनहिं कछु भेदा।
गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥'

उनकी मान्यता है कि राम सभी रूपों में प्रकट होते हैं। वे ही निर्गुण और सगुण, निराकार और सत्कार रूपों में प्रकट हो जाते हैं।